

जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त
(Ethical Doctrines in Jainism)
(खण्ड-3)

लेखक व संपादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अनुवादक
श्रीमती शकुन्तला जैन



जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
राजस्थान

जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त (खण्ड-3)

Hindi Translation of the English book
'Ethical Doctrines in Jainism'

by

Dr. Kamal Chand Sogani

(General Editors: Dr. A. N. Upadhye and Dr. H. L. Jain)

लेखक व संपादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

पूर्व प्रोफेसर दर्शन शास्त्र,

एम. एल. सुखांडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

निदेशक

जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी

अनुवादक

श्रीमती शकुन्तला जैन

सहायक निदेशक

जैनविद्या संस्थान



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

राजस्थान



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

श्री महावीरजी - 322 220 (राजस्थान)

दूरभाष - 7469-224323



प्राप्ति-स्थान

1. जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी

2. साहित्य विक्रय केन्द्र

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - 302 004

दूरभाष - 0141-2385247



प्रथम संस्करण 2011



सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन



मूल्य 350/-



ISBN No. 81-88677-08-6 (खण्ड-3)



पृष्ठ संयोजन

फ्रैण्ड्स कम्प्यूटर्स,

3939, मोतीसिंह भौमियों का रास्ता, पहला चौराहा

जौहरी बाजार, जयपुर - 302004

दूरभाष - 0141-2562288, मो. 9828112284



मुद्रक

जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.

एम.आई. रोड, जयपुर - 302 001

समर्पण

स्व. मास्टर मोतीलाल संघी

(संस्थापक श्री सन्मति पुस्तकालय, जयपुर 1920)

स्व. पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

(प्राचार्य, दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर)

स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये

स्व. डॉ. हीरालाल जैन

स्व. श्रीमती कमला देवी ठोलिया/सोगाणी

(घर्मपत्नी-डॉ. कमलचन्द सोगाणी)

बाधा के रूप में अविद्या(12-14), जाग्रत और सुप्त आत्माएँ (14-18), आध्यात्मिक जीवन के लिए गुरु की आवश्यकता (18-19), आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक (19-22), श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का महत्त्व (23-27), चारित्र का निषेधात्मक पक्ष- पापों और कषायों का परिवर्जन (27-29), चारित्र का निषेधात्मक पक्ष- इन्द्रिय और मन का संयम (29-32), चारित्र का सकारात्मक पक्ष- सदगुणों का विकास (32-36), चारित्र का सकारात्मक पक्ष- ध्यान (36-37), चारित्र का सकारात्मक पक्ष- भक्ति (37-38), योग या ध्यान का शारीरिक और आध्यात्मिक प्रभाव और प्रसाद का तत्त्व (39-40), पूर्णता प्राप्त रहस्यवादी की विशेषताएँ (40-45), विभिन्न दर्शनों में मोक्ष की धारणा (45-48), विभिन्न दर्शनों में अविद्या की धारणा (48-50), मोक्षप्राप्ति के साधन (50-52), योग का अष्टांग मार्ग (52-57), बुद्ध के चार आर्यसत्य (57-62)।

8. जैन और पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

63-75

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण (63), आचारशास्त्रीय चिन्तन का पश्चिम में प्रारंभ (64), समस्या और चिन्तन दृष्टि (64), आचारशास्त्रीय आदर्श की समस्या-सोफिस्ट (64-66), सुकरात (66-67), सुकरात के पंथ (67-68), प्लटो और अरस्तु (68-70), बैन्थम

(VI)

और मिल (70-71), कान्ट (71-72), सद्गुण-सोफिस्ट, सुकरात, प्लेटो और अरस्तु (72-73), सद्गुणों का वर्गीकरण - (1) व्यक्तिगत गुण, (2) सामाजिक गुण, (3) आध्यात्मिक गुण (73-75)।

9. जैन आचार और वर्तमान समस्याएँ 76-84
व्यक्ति और समाज (76-78), राज्य की धारणा और उसके कार्य (78-79), राज्य के सद्गुण (80-84)।
10. सारांश 85-94
सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 95-99

खण्ड - 1 (प्रकाशित)

1. जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2. जैन आचार का तात्त्विक आधार
3. सम्यग्दर्शन और सात तत्त्व
4. गृहस्थ का आचार

खण्ड - 2 (प्रकाशित)

5. मुनि का आचार
6. जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व



प्रकाशकीय

जैनधर्म एवं दर्शन के अध्येताओं के लिए डॉ. कमलचन्द सोगाणी द्वारा लिखित पुस्तक 'Ethical Doctrines in Jainism' के हिन्दी-अनुवाद 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' का प्रकाशन करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी द्वारा सन् 1982 में 'जैनविद्या संस्थान' की स्थापना की गयी। यह संस्थान सन् 1947 में स्थापित 'साहित्य शोध संस्थान' का विकसित रूप है। उस समय इसकी स्थापना में स्व. पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर की प्रेरणा व तत्कालीन मंत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका का प्रयास रहा है।

जैनविद्या संस्थान जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की बहुआयामी दृष्टि को सामान्यजन एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के उपक्रम में संस्थान द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। उदाहरणार्थ- 'जैन पुराण-कोश', 'आदिपुराण'(सचित्र), 'भक्तामर'(सचित्र), 'परम पुरुषार्थ अहिंसा', 'प्रवचन प्रकाश', 'सोलहकारण भावना-विवेक', 'अर्हत प्रवचन', 'जैन भजन सौरभ', 'द्यानत भजन सौरभ', 'दौलत भजन

सौरभ', 'बुधजन भजन सौरभ', 'भूधर भजन सौरभ', 'भागचन्द भजन सौरभ', 'जैन न्याय की भूमिका', 'न्याय दीपिका', 'न्याय-मन्दिर', 'द्रव्यसंग्रह', 'आचार्य कुन्दकुन्द : द्रव्यविचार', 'समयसार', 'स्याद्वाद : एक अनुशीलन' आदि का प्रकाशन किया जा चुका है जिनमें जैनधर्म-दर्शन के सिद्धान्तों, उसके सांस्कृतिक मूल्यों को सरल सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसी क्रम में 'जैनविद्या संस्थान' द्वारा 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्थान से शोध-पत्रिका के रूप में 'जैनविद्या' का प्रकाशन किया जाता है। वर्तमान में संस्थान के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति का अध्यापन पत्राचार के माध्यम से किया जा रहा है जिसका लाभ देश के विभिन्न भागों में रहनेवाले लोग उठा रहे हैं।

'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त' में दस अध्याय हैं जिनमें जैन आचार के विभिन्न आयामों को चित्रित किया गया है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक सामान्यजन एवं विद्वानों के लिए आधारभूत पुस्तक के रूप में उपयोगी होगी और जैनधर्म-दर्शन के अध्ययनार्थियों के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम के रूप में चलायी जा सकेगी।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी जो देश-विदेश के ख्यातिलब्ध विद्वान हैं और दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य हैं, उन्होंने अपने द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद का स्वयं ही सम्पादन करके अनुवाद को प्रामाणिक बना दिया है। इसके लिए हम अपनी गौरवपूर्ण प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ने जैनधर्म-दर्शन के

विभिन्न आयामों को उजागर करने वाली इस चिरप्रतीक्षित पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर जो गरिमा प्रदान की है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी में कार्यरत श्रीमती शकुन्तला जैन ने हिन्दी-अनुवाद करके हिन्दी-जगत के स्वाध्यायियों और जैन आचार के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपलब्ध करवायी, इसके लिए वे धन्यवाद की पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के दस अध्यायों में से चार अध्याय खण्ड-1 के रूप में तथा पाँचवाँ और छठा अध्याय खण्ड-2 के रूप में प्रकाशित किए जा चुके हैं। अब सातवाँ, आठवाँ, नवाँ तथा दसवाँ अध्याय खण्ड-3 में प्रकाशित किये जा रहे हैं। पुस्तक प्रकाशन में संस्थान के सहयोगी कार्यकर्ता एवं मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

नगेन्द्रकुमार जैन
अध्यक्ष

15.03.2011

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी



प्राक्कथन

जैन आचार का अन्य आचार के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना भी एक अत्यन्त रोचक विषय है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं कि-

“सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदाः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥”¹

अर्थ- हे ऋषभदेव! मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि अन्य दर्शनों में भी जो कोई उचित बातें (सूक्तसंपदा) हैं वे आपके ही महासागर से उछलकर गई हुई हैं, अतः वास्तव में केवल आपके ही वाक्य विद्वानों के लिए प्रमाण हैं।

जैनदर्शन के उद्भूत विद्वान डॉ. कमलचन्द सोगाणी की कृति ‘जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ का यह तीसरा खण्ड मुख्य रूप से जैन एवं जैनेतर आचारशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन हेतु ही समर्पित है। इसमें जैन आचारशास्त्र का उपनिषद्, गीता, बौद्ध एवं पाश्चात्य दर्शनों के आचारशास्त्र के साथ साम्य-वैषम्य देखने का शोधपूर्ण प्रयास किया गया है। आश्चर्य होता है कि उन सबके बीच भारी समानता दृष्टिगोचर होती है। विशेष रूप से उपनिषदों का

1. सिद्धसेन द्वात्रिंशिका, 1/30

प्रतिपादन तो जैनाचारशास्त्र से लगभग पूरा का पूरा ही मिलता-जुलता प्रतीत होता है। इससे सभी के मूल स्रोत का एकत्व सिद्ध होता है।

‘जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ के इस तृतीय खण्ड में जैनाचार को वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में भी देखने की रोचक एवं प्रासंगिक चेष्टा की गई है। वास्तव में ही जैनाचार के अन्तर्गत राष्ट्र की ही नहीं, अपितु समूचे विश्व की सर्व समस्याओं के सशक्त समाधान छुपे हुये हैं। भारत के पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह तो यहाँ तक कहते थे कि यदि सभी लोग जैनाचार का पालन करें तो एक भी पुलिस-चौकी की आवश्यकता न पड़े।

इस प्रकार इस कृति का यह तीसरा खण्ड भी पूर्ववर्ती दो खण्डों की भाँति बड़ा ही उपयोगी बन गया है। प्रतिपादन-शैली इसकी भी ऐसी ही है कि पाठक अन्त तक इससे बँधा रहता है।

इस प्रकार अब इस कृति का प्रकाशन-कार्य पूर्णता को प्राप्त होता है। कृति की अनुवादिका श्रीमती शकुन्तला जैन तथा प्रकाशक, जैनविद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी कोटिशः धन्यवादार्ह हैं कि उन्होंने जैन आचारशास्त्र को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी इस कृति को हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराया, अन्यथा यह महान कार्य शायद ही कभी हो पाता।

- वीरसागर जैन



सम्पादकीय

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1961 में पीएच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध 'Ethical Doctrines in Jainism' पुस्तक रूप में सन् 1967 में डॉ. ए. एन. उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन की देख-रेख में जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर से प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण सन् 2001 में प्रकाशित है।

यह पुस्तक विदेशों में, पूर्वी व दक्षिणी भारत में अध्ययनार्थ अत्यधिक रूप से प्रयोग में आई। लगभग 43 वर्ष तक अंग्रेजी जगत के अध्ययनार्थियों ने इसका भरपूर उपयोग किया।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये लिखते हैं- "The Dharmāmṛta of Aśādhara (1240A.D.) is perhaps a fine attempt to propound the twofold discipline in one unit. The Jaina literature abounds in treatises dealing with the life of a monk, and for a handy survey of which one can consult the History of Jaina Monachism by S. B. Deo (Deccan College, Poona 1956). A Critical and historical study of the discipline prescribed for a householder is found in that excellent monograph, the Jaina Yoga by R. Williams (Oxford University Press, Oxford 1963). In the present volume (1967) Dr. K. C. Sogani has attempted an admirable survey of the entire range of the

ethical doctrines in jainism . He has given us an exhaustive study of the ethical doctrines in jainism, presenting his details in an authentic manner.” अर्थात् “आशाधर का धर्माभ्यास (1240 ईस्वी) दो प्रकार के आचार-धर्म को एक इकाई में प्रस्तुत करने का संभवतः सुन्दर प्रयास है। जैन साहित्य में साधु के जीवन से संबंधित शोध-प्रबन्ध प्रचुर मात्रा में हैं। संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए कोई भी व्यक्ति S. B. Deo द्वारा लिखित ‘History of Jaina Monachism’ (Deccan College, Poona 1956) का उपयोग कर सकता है। गृहस्थों के लिए प्रतिपादित आचार-धर्म का आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन आर. विलियम्स द्वारा लिखित जैन योग (Oxford University Press, Oxford 1963) नामक उत्तम निबन्ध में प्राप्त होता है। प्रस्तुत कृति (1967) में डॉ. के. सी. सोगाणी ने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्पूर्ण आयामों का उत्कृष्ट सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है। उन्होंने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रामाणिक रीति से प्रदर्शित करते हुए उनका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन हमें प्रदान किया।”

12 अप्रैल सन् 1971 को प्रो. दलसुख मालवणिया ने लिखा- “आपके द्वारा भेजी गयी ‘Ethical Doctrines in Jainism’ मिली। खेद है इतनी अच्छी पुस्तक मैं अब तक नहीं देख सका। आपकी यह पुस्तक जैन आचार विषय को लेकर अन्तर और बाह्य सभी पहलुओं की चर्चा से संपन्न है। आपने मुनि और गृहस्थ के आचारों का निरूपण तो किया ही है, किन्तु जैन तत्त्वज्ञान के साथ उसका क्या संबंध है- उसका भी सुन्दर विवेचन किया है। इतना ही नहीं किन्तु भूमिका रूप में वैदिक परम्परा के आचार के प्रकाश में जैन आचार को देखने का जो

प्रयत्न है, वह आपकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। साथ ही मिस्टीसिद्धि और भक्तिवाद का जैन आचार के साथ किस प्रकार मेल है तथा पाश्चात्य देशों में जो आचार-संबंधी विचारणा हुई है उसके सन्दर्भ में भी आपने जैन आचार को देखा है वह आपकी अपनी सूझ है और वह आप तत्त्वज्ञान के विद्यार्थी होने से अच्छी तरह कर सके हैं- इसमें सन्देह नहीं है।”

इस पुस्तक के हिन्दी-अनुवाद की चर्चा काफी समय से चल रही थी। जैनविद्या संस्थान-अपभ्रंश साहित्य अकादमी की कार्यकर्ता श्रीमती शकुन्तला जैन ने इसके हिन्दी-अनुवाद करने की इच्छा प्रकट की। पिछले 19 वर्षों से वे संस्थान-अकादमी में कार्यरत हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की उनकी योग्यता सराहनीय है। उनकी उत्कट इच्छा को देखकर मैंने उनको इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति प्रदान कर दी और उसका सम्पादन करना मैंने स्वीकार किया।

हमारे साग्रह निवेदन पर प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ने इसके प्राक्कथन लिखने की स्वीकृति प्रदान करने की कृपा की। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस पुस्तक को तीन खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। प्रथम चार अध्याय (1) जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (2) जैन आचार का तात्त्विक आधार (3) सम्यग्दर्शन और सात तत्त्व (4) गृहस्थ का आचार - ये एक खण्ड में रखे गये हैं। अन्य दो अध्याय (5) मुनि का आचार (6) जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व- ये द्वितीय खण्ड में रखे गये हैं। (7) जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त (8) जैन और पाश्चात्य आचारशास्त्रीय

सिद्धान्तों के प्रकार (9) जैन आचार और वर्तमान समस्याएँ (10) सारांश - ये तृतीय खण्ड में रखे गये हैं।

प्रथम खण्ड की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं-

प्रथम, जैनधर्म अपने उद्गम के लिए ऋषभदेव का ऋणी है जो चौबीस तीर्थकरों में प्रथम हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में ऐसे व्यक्ति थे जो प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। निःसन्देह जैनधर्म महावीर या पार्श्वनाथ के पहले भी प्रचलित था। जैन आचार अपने उद्भव में मागधीय है।

द्वितीय, सम्पूर्ण जैन आचार व्यवहार में अहिंसा की ओर उन्मुख है। गृहस्थ के आचार का वर्णन करने के लिए व्यापक पद्धति है- गृहस्थाचार को पक्ष, चर्या और साधन में विभाजित करना। सल्लेखना की प्रक्रिया का आत्मघात से भेद किया जाना चाहिए। सल्लेखना उस समय ग्रहण की जाती है जब कि शरीर व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असफल हो जाता है और जब मृत्यु का आगमन निर्विवाद रूप से निश्चित हो जाता है, किन्तु आत्मघात भावात्मक अशान्ति के कारण जीवन में किसी भी समय किया जा सकता है।

तृतीय, जैन तत्त्वमीमांसा जैन आचारशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादन का आधार है। जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत तात्त्विक दृष्टि अनेकान्तवाद या अनिरपेक्षवाद के नाम से जानी जाती है। जैनदर्शन की दृढ़ धारणा है कि दर्शन में निरपेक्षवाद नैतिक चिन्तन का विनाशक है, क्योंकि निरपेक्षवाद सदैव चिन्तन की प्रागनुभवि प्रवृत्ति पर आधारित होता है जो अनुभव से बहुत दूर है। अहिंसा की

(XVIII)

धारणा जो जैन आचार के क्षेत्र से संबंधित है, पदार्थों के तात्त्विक स्वभाव का तार्किक परिणाम है।

चतुर्थ, जैनधर्म केवल आचार और तत्त्वमीमांसा ही नहीं है बल्कि अध्यात्मवाद भी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों द्वारा निरन्तर सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक जाग्रति) की वास्तविक उपलब्धि पर जोर दिया गया है। सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के बिना सम्पूर्ण जैन आचार चाहे गृहस्थ का हो या मुनि का, पूर्णतया निर्जीव है।

द्वितीय खण्ड की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं—

मुनिधर्म क्रिया-जगत से नहीं बल्कि हिंसा-जगत से पीछे हटना है। वास्तव में क्रिया त्यागी नहीं जाती है लेकिन क्रिया का लोकातीत स्वरूप सांसारिक स्वरूप का स्थान ले लेता है। मुनिधर्म का आचरण जो सम्यग्दर्शन सहित शुभ भावों से सम्बन्धित होता है मन्द कषाय के रूप में आध्यात्मिक बाधाओं की उपस्थिति के कारण अहिंसा की पूर्ण अनुभूति को रोक देता है। निःसन्देह मुनि जीवन इस अनुभूति के लिए पूर्ण भूमिका प्रदान करता है लेकिन इसका सम्पूर्ण अनुभव केवल रहस्यात्मक अनुभूति की परिपूर्णता में ही संभव होता है।

जैनधर्म में 'रहस्यवाद' का समानार्थक शब्द 'शुद्धोपयोग' है। कुन्दकुन्द के अनुसार बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है अर्थात् बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा की परा-नैतिक अवस्था को प्राप्त करना रहस्यवाद है। यदि रहस्यवादी की पद्धति अनुभव और अन्तर्ज्ञान है तो तत्त्वमीमांसक की पद्धति केवल विचारणा है। रहस्यवादी मार्ग को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है, उदाहरणार्थ—
(1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल (2) आत्मजाग्रति और

उससे पतन (3) शुद्धीकरण (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था (5) ज्योति के पश्चात् अंधकार काल और (6) लोकातीत जीवन।

तृतीय खण्ड की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं—

प्रथम, प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग में भेद करने के पश्चात् विवेकी श्रेय मार्ग को चुनता है जिसके कारण जीवन का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त किया जाता है। यह श्रेय मार्ग मनुष्य को क्षणभंगुर सांसारिक वस्तुओं से और दुःखों से मुक्त कर देता है। परा विद्या या अपरा विद्या के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि शुद्धनय (निश्चयनय) अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव है जो परा विद्या के अनुरूप है और व्यवहारनय बौद्धिक ज्ञान है जो अपरा विद्या के अनुरूप है। कर्मयोगी सक्रियता के जीवन में कर्मों को अनासक्ति भाव से सम्पन्न करता है। निष्काम कर्म आध्यात्मिक रूप से प्रकाशित जीवन का स्वाभाविक परिणाम है। तीर्थंकर जीवन में सक्रियता के उदाहरण है। वे सभी कर्मों को अनासक्त भाव से करते हैं। सुप्त-आत्मा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों में संलग्न रहता है किन्तु जाग्रत-आत्मा इन्द्रियों को अन्दर की ओर मोड़ता है और आत्मा को देखता है। शुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति ध्यान से ही परमात्मा का अनुभव कर पाता है। नैतिक अनुशासन और तपों का पालन करते हुए तथा आगमों का विस्तृत अध्ययन होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन में सफलता ध्यान के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है।

द्वितीय, पश्चिम में सोफिस्ट आचारशास्त्रीय विज्ञान के जनक कहे जा सकते हैं। सोफिस्टिक आन्दोलन ने मनुष्य के विचारों को जगाया और दर्शन, धर्म आदि को चुनौती दी और बुद्धि को इनके लिए महत्त्वपूर्ण माना। सुकरात के अनुसार ज्ञान उच्चतम शुभ है किन्तु कषायों

के अस्तित्व को भुलाया नहीं जा सकता है। प्लेटो और अरस्तु ने वासनात्मक भागों का बौद्धिक जीवन से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। बैन्थम और मिल उपयोगितावाद के प्रवर्तक हैं। जैन आचार अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के स्थान पर सभी लोगों के अधिकतम सुख को स्वीकार करता है। कान्ट के अनुसार उच्चतम शुभ ऐसे नैतिक नियम के सम्मान में कार्य करना है जो निरपेक्ष रूप से बिना परिस्थिति, परिणाम और भावात्मक रूप के आदेशित है। जैन आचार के अनुसार अहिंसा का मापदण्ड सद्गुणों के निर्णय के लिए प्रतिपादित है।

तृतीय, व्यक्ति और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति समाज को गढ़ता है और समाज के द्वारा गढ़ा जाता है। इस तरह व्यक्ति समाज पर निर्भर होता है, किन्तु वह शनैः-शनैः समाज से स्वतंत्र हो जाता है, निर्भरता त्याग देता है। राज्य एक आवश्यक बुराई है। राज्य को चाहिए कि वह अपने कार्यों की व्यवस्था इस प्रकार करे कि जिससे वह पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विकास में सहयोगी बन सके। राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय क्रियाकलापों को अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। जाति केवल एक ही है, वह है- मनुष्यता। जीवन में योग्यता जाति का आधार होती है और जाति का अहंकार सम्यग्जीवन को नष्ट कर देता है। यदि आधुनिक प्रजातंत्र को सफल होना है तो जातिवाद समाप्त होना चाहिए। जातिवाद और प्रजातंत्र एक-दूसरे के विरोधी हैं।

मुझे लिखते हुए हर्ष है कि डॉ. वीरसागर जैन के प्रेरणाप्रद प्रोत्साहन व मार्गदर्शन ने तथा श्रीमती शकुन्तला जैन की कार्यनिष्ठा ने मेरे सम्पादन-कार्य को सुगम बना दिया, फलस्वरूप इसका खण्ड-1,

खण्ड-2 एवं खण्ड-3 प्रकाशन के लिए तैयार हो सका; अतः मैं इनका अत्यन्त आभारी हूँ। मैं विशेषतया डॉ. वीरसागर जैन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को आद्योपान्त अक्षरशः पढ़ा, बहुमूल्य सुझाव दिए और इसके 'प्राक्कथन' लिखने की स्वीकृति प्रदान कर अनुगृहीत किया।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
निदेशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी



सामान्य सम्पादकीय

आचार जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसके दो प्रयोजन हैं- प्रथम, यह आध्यात्मिक शुद्धि उत्पन्न करता है और द्वितीय, यह व्यक्ति को योग्य सामाजिक प्राणी बनाता है; जिससे वह उत्तरदायित्वपूर्ण एवं सद्व्यवहारवाला पड़ोसी बन सके।

(1) पहला प्रयोजन कर्म के जैन सिद्धान्त से उत्पन्न होता है; जो स्वचालितरूप से क्रियाशील नियम है; जिससे कर्म-विधान के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वयं के विचारों, शब्दों और क्रियाओं का शुभ या अशुभ फल अवश्य मिलता है। कर्म के इस नियम में ईश्वरीय हस्तक्षेप को कोई स्थान नहीं है, यहाँ ईश्वर को सृष्टि का कर्ता स्वीकार नहीं किया गया है। वह न तो सांसारिक प्राणियों को प्रसाद प्रदान कर सकता है और न ही दण्ड दे सकता है। निःसन्देह यह एक साहसिक दृष्टिकोण है जो जैनधर्म में बुनियादी तौर पर प्रतिपादित किया गया है जिसके कारण व्यक्ति निश्चय ही अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। कर्म एक सूक्ष्म 'पुद्गल' या 'ऊर्जा' का एक प्रकार माना गया है जो विचारों, शब्दों और क्रियाओं के फलस्वरूप आत्मा को प्रभावित करता है। वास्तव में प्रत्येक आत्मा अनादिकाल से कर्मों के प्रभाव में है। प्रत्येक व्यक्ति अतीत के कर्मों के फलों का अनुभव करता है और नये कर्म बाँधता है। इस तरह से क्रिया और उसके फल का चक्र चलता रहता है। केवल अनुशासनात्मक जीवन जीने से व्यक्ति कर्मों से छुटकारा पा सकता है। इस तरह से जब आत्मा पूर्णतया कर्मों से मुक्त हो जाता है तो यही आध्यात्मिक मुक्ति कही जाती है।

(2) दूसरा प्रयोजन सभी प्राणियों के प्रति समानता का दृष्टिकोण विकसित करने के लिए प्रेरित करता है और यह एक व्यक्ति और उसकी संपत्ति के प्रति भी पवित्र दृष्टिकोण उत्पन्न करता है।

यह आचार जैनधर्म में श्रेणीबद्ध रूप से वर्णित है। यह व्यक्ति के लिए प्रस्तावित करता है कि वह आचार का निष्कपट रूप से पालन करे।

इस आचार का आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकार की स्वीकृति है, जिसको यह कहकर सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है, कोई भी मरना नहीं चाहता। इसलिए दूसरे प्राणियों को नष्ट करने या नुकसान पहुँचाने का किसी को भी अधिकार नहीं है; उस रूप में विचार करने पर अहिंसा सुसंस्कृत और विवेकपूर्ण जीवन का मूलभूत नियम है और इस तरह यह जैनधर्म के समस्त नैतिक शिक्षण का आधार बन जाता है। “न किसी को मारना और न ही किसी को नुकसान पहुँचाना ऐसे आदेश का निर्धारण मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महान घटना है।” यह बात ‘अलबर्ट स्वाइटजर’ के द्वारा (Indian Thoughts and its Development London 1951, pp. 82-3) उचितरूप से कही गयी है। “जहाँ तक हमको ज्ञात है यह बात स्पष्ट रूप से प्रथम बार जैनधर्म में अभिव्यक्त की गयी है।”

जैन नीतिशास्त्री पूर्णरूप से इस बात से परिचित हैं कि ईमानदार और सुदृढ़ अहिंसावादी व्यक्ति को व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे समझ चुके हैं कि जैनधर्म ने सचेतन प्राणियों को जैविक विज्ञान के अनुरूप श्रेणीबद्ध रूप से व्यवस्थित किया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को किसी भी उच्चश्रेणीवाले जीव को मारने और नुकसान पहुँचाने से परहेज करने के योग्य बनाना है और

अंतिम रूप से यह बताना है कि व्यक्ति निम्न श्रेणीवाले जीव को भी नुकसान पहुँचाने से परहेज करे।

यह बात ही पर्याप्त नहीं है कि हम केवल व्यक्ति के जीवन के प्रति सम्मान प्रकट करें, किन्तु हमें उसके व्यक्तित्व और उसकी संपत्ति की पवित्रता को भी अनिवार्य रूप से आदर देना चाहिए। यह दृष्टिकोण जैन व्रतों के सार को व्यक्त करता है जो इस प्रकार वर्णित हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये अणुव्रत कहलाते हैं जब गृहस्थों के लिए बताए जाते हैं और जब यथार्थरूप से साधुओं द्वारा पालन किये जाते हैं तो महाव्रत कहलाते हैं।

इनका अध्ययन यह बताता है कि “वे एक दूसरे पर आश्रित और एक दूसरे के पूरक हैं।” यह बात बेनीप्रसाद द्वारा विचारोत्तेजक निबन्ध (World Problems and Jaina Ethics, Lahore 1945, pp. 17-18) में अच्छी प्रकार से कही गयी है। “जब किसी एक व्रत का मानवीय संबंधों के लिए उपयोग किया जाता है तो तार्किकरूप से दूसरे व्रत भी इसमें आ जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो वास्तव में दूसरे व्रतों के बिना कोई भी व्रत अपने आप में निरर्थक सिद्ध होगा। उन व्रतों में से प्रथम अर्थात् अहिंसा मुख्य मानी गयी है। यह (अहिंसा) समस्त उच्च जीवन का आधार है, जैन और बौद्ध नैतिक नियमों में यह (अहिंसा) मानवतावाद से अधिक व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सचेतन सृष्टि समाविष्ट है। अहिंसा की तरह अस्तेय और अपरिग्रह दिखने में निषेधात्मक हैं, किन्तु वास्तव में प्रयोग में विधेयात्मक हैं। पाँचों अणुव्रत मिलकर जीवन की नैतिक और आध्यात्मिक धारणा का निर्माण करते हैं। ये स्व-उत्कर्ष के महान सिद्धान्त के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हैं। इन्हें मूल्यों का उत्कर्षीकरण भी कहा जा सकता है।”

जैनधर्म में जीवन-चर्या दो प्रकार से प्रस्तावित की गई है। एक जीवन-चर्या तो साधु के लिए है जिसने सांसारिक बंधनों को तोड़ दिया है और दूसरी गृहस्थ के लिए है जिसके ऊपर कई सामाजिक उत्तरदायित्व हैं। साधुओं और गृहस्थों के कर्तव्यों के प्रतिपादन के लिए जैनधर्म में अत्यधिक मात्रा में साहित्य विकसित हुआ है। आधारभूत निर्देशन और दण्डात्मक नियंत्रण ने साधुओं और गृहस्थों को सम्यक्चारित्र पर चलने के लिए सहायता की है। आशाधर का धर्माभूत (1240 ईस्वी के बाद), दो प्रकार के आचार को एक इकाई में प्रस्तुत करने का संभवतः सुन्दर प्रयास है। जैन साहित्य में साधु के जीवन से संबंधित शोधप्रबन्ध प्रचुर मात्रा में हैं। संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए कोई भी व्यक्ति S. B. Deo द्वारा लिखित (History of Jaina Monachism, Deccan College, Poona 1956) का उपयोग कर सकता है। गृहस्थों के लिए प्रतिपादित आचार का आलोचनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन आर. विलियम्स द्वारा लिखित जैन योग (Oxford University Press, Oxford 1963) नामक उत्तम निबन्ध में प्राप्त होता है। इसके लिए कोई भी व्यक्ति दूसरे स्रोत जैसे-वसुनन्दि श्रावकाचार (संपादक हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस 1952), उपासकाध्ययन (संपादक कैलाशचन्द्र शास्त्री, बनारस 1964), और एम. मेहता द्वारा लिखित जैन आचार (वाराणसी 1966) का भी अध्ययन कर सकता है।

प्रस्तुत कृति में डॉ. के. सी. सोगाणी ने जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्पूर्ण आयामों का उत्कृष्ट सर्वेक्षण करने का प्रयास किया है। जैन आचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कुछ टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने के पश्चात् (I) वे तात्त्विक आधार को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं जिस पर जैन आचार का भवन विस्तृतरूप से निर्मित है (II-III) उसके पश्चात् गृहस्थों और मुनियों का आचार विस्तारपूर्वक वर्णित है

(IV-V) जैन आचार आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखाता है, इसलिए उसका रहस्यात्मक महत्त्व है (VI) यद्यपि जैनधर्म की अपनी स्वयं की विशेषताएँ हैं फिर भी जैन और अजैन के नैतिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से निश्चय ही लाभकारी परिणाम उत्पन्न होते हैं (VII) जैन आचार सिद्धान्तों का दूरगामी सामाजिक तात्पर्य है और उनका आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाना उपयुक्त है। जैनधर्म के तीन सिद्धान्त- अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त यदि उचित रूप से समझे जाएँ और उनको व्यवहार में क्रियान्वित किया जाय तो वे किसी भी व्यक्ति को ऐसे सम्माननीय नागरिक बना सकते हैं, जो अपनी जीवन दृष्टि में मानवीय होते हैं और परिग्रह वृत्ति से अनासक्त होते हैं और अपनी मानसिक स्थिति में उच्चकोटि के बुद्धिसम्पन्न और सहनशील होते हैं। सारांश यह है कि डॉ. सोगाणी ने हमें जैनधर्म के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रामाणिक रीति से प्रदर्शित करते हुए उनका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रदान किया है।

डॉ. सोगाणी की प्रस्तुत कृति मूल रूप से वही शोधप्रबन्ध है जो राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी की उपाधि के लिए स्वीकृत की गयी थी। यह उनका अत्यधिक स्नेह था कि उन्होंने जीवराज जैन ग्रंथमाला में प्रकाशन के लिए उसको हमारी व्यवस्था में सौंपा।

सामान्य सम्पादक होने के नाते हम ट्रस्ट कमेटी के सदस्यों और प्रबन्ध समिति को ऐसे प्रकाशनों के वास्ते वित्त-प्रबन्ध के लिए मन से धन्यवाद अर्पित करते हैं। इस बात की आशा की जाती है कि इस प्रकार 'जैन आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों' का सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिपादन भारतीय धार्मिक चिंतन के विद्यार्थियों के लिए जैनधर्म को समीचीन रूप से समझने के योग्य बना देगा।

हमें यहाँ लिखते हुए अत्यधिक दुःख है कि श्री गुलाबचन्द हीराचन्दजी का 22.01.67 को निधन हो गया। वे ट्रस्ट कमेटी के अध्यक्ष थे और उन्होंने ग्रंथमाला की प्रगति में तीव्र रुचि दर्शायी। सामान्य सम्पादकों ने उनमें निहित उपकारिता की निधि को तथा उच्चकोटि के उदारतावाद को खो दिया। उनके कारण अधिकतर हमारे प्रकाशनों की नीति की रूपरेखा तैयार हुई। यह हमारे लिए संतोष की बात है कि उनके पश्चात् उनके भाई श्री लालचंद हीराचंदजी हमारे अध्यक्ष बने। सेठ श्री लालचंदजी गतिशील प्रेरणा के लिए प्रसिद्ध हैं, उनकी यह प्रेरणा, हम आशा करते हैं कि, संघ की गतिविधियों में नवीन उत्साह भर देगी।

हम मन से धन्यवाद करते हैं श्री वालचन्द देवीचन्दजी और श्री माणकचन्द वीरचन्दजी का जो इन प्रकाशनों में सक्रिय रुचि ले रहे हैं। उनके सहयोग और सहायता के बिना सामान्य संपादकों के लिए विविध प्रकार के प्रकाशनों को संपादित करना कठिन होता।

ए. एन. उपाध्ये
कोल्हापुर

एच. एल. जैन
जबलपुर



प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति मूलतः वही शोधप्रबन्ध है जो राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी की उपाधि के लिए सन् 1961 में स्वीकृत की गयी थी। इस कृति में सर्वप्रथम यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि सम्पूर्ण जैन आचार व्यवहार में अहिंसा की ओर उन्मुख है। जैनाचार्यों के द्वारा अहिंसा की परिपूर्ण अनुभूति को मानव जीवन का उच्चतम आदर्श समझा गया है। अहिंसा जैनधर्म में इतनी प्रमुख है कि इसे जैनधर्म का प्रारंभ और अंत कहा जा सकता है। समन्तभद्राचार्य का कथन है कि “सभी प्राणियों की अहिंसा परमब्रह्म की अनुभूति के समान है।” यह कथन अहिंसा के उच्चतम स्वभाव को प्रकाशित करता है।

अहिंसा का आदर्श क्रमिकरूप से अनुभव किया जाता है। जो व्यक्ति अहिंसा का आंशिकरूप (Partially) से पालन करने के योग्य होता है वह गृहस्थ कहलाता है और जो अहिंसा का पूर्णरूप (Completely) से पालन करता है, यद्यपि परिपूर्णरूप (Perfectly) से नहीं कर पाता वह संन्यासी या मुनि कहा गया है। निःसन्देह मुनियों का जीवन अहिंसा के अनुभव के लिए पूरा आधार प्रदान करता है, किन्तु इसका परिपूर्णरूप से अनुभव केवल आध्यात्मिक (रहस्यात्मक) अनुभव की पूर्णता में ही संभव है जो कि अर्हत् अवस्था कही जाती है।

इस प्रकार गृहस्थ और मुनि दो पहिये हैं जिस पर जैन आचाररूपी गाड़ी बिलकुल आसानी से चलती है। जैन आचार्यों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इन दो आचारों को अपनी दृष्टि में सदैव रखा। उन्होंने कभी भी एक-दूसरे के कर्तव्यों का घालमेल करने या उनको गड्ड-मड्ड करने

का समर्थन नहीं किया। परिणामस्वरूप उन्होंने जैनधर्म में गृहस्थ-आचार को उतनी ही स्पष्टता से विकसित किया जितनी स्पष्टता से मुनि-आचार विकसित किया गया। मुनिप्रवृत्ति से अभिभूत होकर जैनधर्म ने गृहस्थ-आचार की उपेक्षा नहीं की। अणुव्रतों के सिद्धान्त को विकसित करने के कारण जैनधर्म ने ऐसा मार्ग दिखा दिया है जिस पर गृहस्थ अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक चला सकता है। अणुव्रतों का सिद्धान्त भारतीय चिन्तन को जैनधर्म का अद्वितीय योगदान है।

द्वितीय, यह बताने का प्रयास किया गया है कि जैन तत्त्वमीमांसा जैन नीतिपरक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आधार है। जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत तात्त्विक दृष्टि अनेकान्तवाद या अनिरपेक्षवाद के नाम से जानी जाती है। द्रव्य के स्वरूप को प्रकट करने के लिए जैन दार्शनिक निरपेक्ष दृष्टिकोण का अनुमोदन नहीं करते हैं। जैनदर्शन की दृढ़ धारणा है कि दर्शन में निरपेक्षवाद नैतिक चिन्तन का विनाशक है, क्योंकि निरपेक्षवाद सदैव चिन्तन की प्रागनुभविक प्रवृत्ति पर आधारित होता है जो अनुभव से बहुत दूर है। इस दृष्टि से समन्तभद्र का कथन महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार बंधन और मोक्ष, पुण्य और पाप की जो धारणा है वह अपनी प्रासंगिकता खो देती है यदि हम द्रव्य के स्वभाव के निर्माण में केवल नित्यता या अनित्यता को स्वीकार करते हैं। थोड़े से चिन्तन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अहिंसा की धारणा जो जैन आचार के क्षेत्र से संबंधित है पदार्थों के तात्त्विक स्वभाव का तार्किक परिणाम है।

तृतीय, यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि अध्यात्मवाद में जैन आचार की पराकाष्ठा है। इस प्रकार यदि आचार का मूल स्रोत तत्त्वमीमांसा है तो अध्यात्मवाद इसकी परिसमाप्ति है। आचारशास्त्र

तात्त्विक चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभव को जोड़नेवाली कड़ी है। यह कहना गलत न होगा कि जैनधर्म केवल आचार और तत्त्वमीमांसा ही नहीं है बल्कि अध्यात्मवाद भी है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जैन आचार्यों द्वारा निरन्तर सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक जाग्रति) की वास्तविक उपलब्धि पर जोर दिया गया है। सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के बिना सम्पूर्ण जैन आचार चाहे गृहस्थ का हो या मुनि का पूर्णतया निर्जीव है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन आचार में अध्यात्मवाद व्याप्त है। आध्यात्मिक जीवन-पथ के प्रति गहन निष्ठा के कारण जैनधर्म ने आध्यात्मिक विकास के चौदह सोपान विकसित किये हैं जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है। मैंने इन सोपानों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, उदाहरणार्थ- (1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारपूर्ण काल (आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि), (2) आत्मजाग्रति (आत्मा का जागरण), (3) आचार-सम्बन्धी शुद्धीकरण, (4) प्रकाश-ज्योति, (5) प्रकाश-ज्योति के पश्चात् अंधकार का काल और (6) सामान्य अनुभव से परे लोकोत्तर जीवन। इन सोपानों से परे एक अवस्था और है जिसे सिद्ध-अवस्था के नाम से जाना जाता है।

चतुर्थ, यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैनधर्म में भक्ति की सैद्धान्तिक संभावना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जैनधर्म और भक्ति आपस में एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं, क्योंकि भक्ति में एक ऐसे दिव्य/ईश्वरीय हस्ती के अस्तित्व की पूर्व मान्यता है जो भक्त की आकांक्षाओं का सक्रियता से उत्तर दे सके और जैनधर्म में ऐसी हस्ती की धारणा अमान्य है। यह कहना सत्य है कि जैनधर्म ऐसी ईश्वरीय हस्ती के विचार का समर्थन नहीं करता है, लेकिन जैनधर्म में निःसन्देह अर्हत और सिद्ध, जो कि दिव्य अनुभव प्राप्त आत्माएँ हैं,

भक्ति के विषय हो सकते हैं, किन्तु वे मानवीय प्रार्थनाओं के विषय होते हुए भी मानवीय सुख-दुःख से बिलकुल तटस्थ रहते हैं। लेकिन जैनधर्म के अनुसार अर्हत् या सिद्ध के प्रति भक्ति की प्रेरणा इस बात से उत्पन्न होती है कि उनमें से किसी की भी भक्ति आत्मा में उच्चतम प्रकार के पुण्य का संचय करती है, जो फलस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक लाभ उत्पन्न करती है। अर्हत् या सिद्ध के प्रति भक्ति के द्वारा हमारे विचार और संवेग शुद्ध होते हैं जिसके परिणामस्वरूप आत्मा में पुण्य का संचय होता है। इस प्रकार का पुण्य केवल पत्थर की पूजा करने से उत्पन्न नहीं हो सकता है, इसलिए जैनधर्म में अर्हत् और सिद्ध की पूजा का महत्त्व है। इस तथ्य के कारण समन्तभद्र यह घोषणा करते हैं कि अर्हत् की आराधना आत्मा में अत्यधिक पुण्य का संचय करती है। जो उसकी भक्ति करता है वह समृद्धि को पाता है और जो उसकी निन्दा करता है वह दुःख में गिरता है। ऐसा समझने पर साधक को ईश्वर (अर्हत् और सिद्ध) के अलगाव पूर्ण व्यवहार के लिए निराशा की श्वास नहीं लेनी चाहिये। सच तो यह है कि जो उनकी भक्ति करते हैं, वे स्वतः ही उन्नत हो जाते हैं।

अंत में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि वास्तव में वैदिक, जैन और बौद्ध से प्राप्त तात्त्विक निष्कर्षों में भेद होते हुए भी उनके प्रतिपादकों ने वस्तुओं की असारता से परे जाने के लिए समान पद्धतियों और युक्तियों का सहारा लिया है। इस प्रकार वे मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्रीय और धार्मिक भाव के स्तर पर असाधारण रूप से सहमत हैं। इसके साथ ही मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों की भी आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा की है।

इस कार्य के आयोजन में जिन स्रोतों का उपयोग किया गया है उनके प्रति पादटिप्पण में ऋण स्वीकार किया गया है। शब्दशः अनुवाद की अपेक्षा मूल स्रोतों का अनुवाद करने के लिए भाव का अधिक ध्यान रखा गया है।

प्रारम्भ में ही मैं गहरी कृतज्ञता के भाव को अभिव्यक्त करता हूँ स्व. मास्टर मोतीलालजी संघी, जयपुर (राजस्थान) के प्रति, जिन्होंने न केवल शब्दों से किन्तु अपने जीवन और चिन्तन के तरीके से मुझे दर्शन की ओर मोड़ा। आध्यात्मिक व्यक्तियों में मैं उन्हें उच्च श्रेणी का मानता हूँ। व्यक्तियों को जाति और मत के पक्षपात के बिना बदलने के तरीके के कारण और आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के कारण वे मुझे सुकरात की याद दिलाते हैं। पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, प्राचार्य, जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर (राजस्थान) मेरे लिए सदैव प्रकाश और प्रेरणा के स्रोत बने रहे। उनका अगाध पाण्डित्य, गंभीर चिंतन और संत जैसा जीवन मेरे लिए मार्गदर्शक बना। उनके कारण ही मैं मूल स्रोतों के अध्ययन में लगा रहा और उनको वर्तमान रूप में प्रस्तुत कर सका। मेरे लिए वे दृढ़ता, धैर्य, साहस और अक्षुण्ण उत्साह के प्रतीक हैं। मैं उनका कितना ऋणी हूँ— यह मेरी अभिव्यक्ति से परे है।

मैं पूर्णरूप से कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ मेरे सुपरवाइजर डॉ. वी. एच. दाते के प्रति, जिनके निर्देशन और स्नेही व्यवहार से वर्तमान कार्य कर सका। यहाँ मुझे यह उल्लेख करते हुए हिचकिचाहट नहीं है कि उनके कारण ही मैं मेरा स्नातकोत्तर अध्ययन पूरा कर सका और दर्शन में कई नयी बातें सीख सका जिनको केवल लम्बे व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण ही सीखा जा सकता है। मैं उनके वात्सल्य को कभी नहीं भुला सकता।

(XXXIII)

डॉ. ए. एन. उपाध्ये जो ग्रंथमाला के सामान्य संपादक है उनके प्रति मेरी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति के लिए शब्द अपर्याप्त है। विविध बौद्धिक कार्यों के होते हुए भी उन्होंने इस कार्य के प्रकाशन में व्यक्तिगत रुचि ली और उन्होंने एक से अधिक बार प्रूफों का संशोधन किया। मैं मन से धन्यवाद अर्पित करता हूँ जीवराज जैन ग्रंथमाला के ट्रस्टियों का जिन्होंने इस कार्य के प्रकाशन की व्यवस्था की। मैं अत्यन्त ऋणी हूँ श्री पी. सिन्हा, प्राचार्य, आर. आर. कॉलेज, अलवर (राजस्थान) का जिन्होंने मुझे ऐसे कार्यों को करने के लिए सभी प्रकार की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की। मैं मेरे मित्र श्री बी. आर. भण्डारी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपना अत्यधिक समय अनुक्रमणिका तैयार करने में लगाया। इस अवसर पर मुझे धन्यवाद देना नहीं भूलना चाहिये अपनी पत्नी श्रीमती कमला देवी सोगाणी को जिन्होंने अपने बहुत से स्वार्थों के त्याग द्वारा और मूल स्रोतों से सामग्री निकालने में मदद द्वारा मुझे व्यावहारिक प्रोत्साहन दिया।

01.03.67

के. सी. सोगाणी
उदयपुर



(XXXIV)

जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण

‘जैन आचार का रहस्यात्मक महत्त्व’ नामक पूर्व अध्याय में हमने बताया है कि मनुष्य किस प्रकार कषाय की गुफा से बाहर निकलकर लोकातीत चेतना के आवास में विश्राम करता है? बहिरात्मा प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता है, अन्तरात्मा सभी को नकारता है लेकिन परमात्मा न तो स्वीकार करता है और न नकारता है किन्तु वह स्वीकारने और नकारने के द्वैत से परे हो जाता है। इस संबंध में प्रथम, हमने रहस्यवाद की जैन धारणा और उसका तत्त्वमीमांसा से संबंध की व्याख्या की है। द्वितीय, हमने मिथ्यात्व में डूबी हुई आत्मा की दुर्दशा को बताया है, साथ में आध्यात्मिक रूपान्तरण के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का निरूपण किया है तथा नैतिक और बौद्धिक रूपान्तरण से उसके भेद को समझाया है। तृतीय, शुद्धीकरण और नैतिक तैयारी की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराया गया है और उसमें स्वाध्याय और भक्ति के ऊपर जोर दिया गया है। चतुर्थ, ज्योतिपूर्ण अवस्था की धारणा और दो प्रकार के पतन की संभावना अर्थात् प्रथम, आत्मजाग्रति से और द्वितीय, ज्योतिपूर्ण अवस्था से— इन दोनों को चित्रित किया गया है। पंचम, सदेहमुक्ति और विदेहमुक्ति के परिप्रेक्ष्य में हमने लोकातीत जीवन की विशेषताओं का वर्णन किया है। आध्यात्मिक विकास के चौदह गुणस्थानों के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी बातों को सम्मिलित किया

गया है, साथ ही हमने सिद्ध अवस्था को भी समझाया है जो इन चौदह गुणस्थानों से परे है।

वर्तमान अध्याय में हम उपनिषद्, भगवद्गीता, शंकर-वेदान्त, पूर्व-मीमांसा, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा प्रारंभिक बौद्ध धर्म के आचार के साथ जैन आचार की तुलना करेंगे।

विभिन्न प्रकार से नैतिक आदर्श की अभिव्यक्तियाँ

सर्वप्रथम हम गीता और उपनिषदों के चिन्तकों द्वारा जो नैतिक आदर्श का स्वरूप बताया गया है उसको समझायेंगे। उन्होंने विभिन्न प्रकार के नैतिक आदर्श पर विचार किया है किन्तु वे केवल अभिव्यक्ति की भिन्नताएँ हैं, उनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है।

(क) प्रथम, कठोपनिषद् में प्रतिपादित प्रेय मार्ग और श्रेय मार्ग में भेद करने के पश्चात् विवेकी प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग को चुनता है जिसके कारण जीवन का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त किया जाता है। इसके विपरीत मूढ़ प्रेय मार्ग की तरफ लालायित रहने के कारण श्रेय मार्ग का वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है।¹ अतः प्रेय मार्ग जिसका अधिकांश लोग अनुसरण करते हैं उसका श्रेय मार्ग से भेद किया जाना चाहिये। यह श्रेय मार्ग मनुष्य को क्षणभंगुर सांसारिक वस्तुओं से और दुःखों से मुक्त कर देता है।

जैनधर्म के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मार्ग ज्ञानियों द्वारा स्वीकार किया जाता है जब कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का मार्ग अज्ञानियों द्वारा स्वीकार किया जाता है। पूर्ववर्ती मार्ग मनुष्य को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर देता है

1. कठोपनिषद्, 1/2/1, 2

जब कि परवर्ती मार्ग उसको दुःखपूर्ण इच्छाओं के दलदल में फँसा देता है।

(ख) इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्² के अनुसार ज्ञानी और श्रद्धावान संन्यासी देवयान मार्ग को चुनता है जिसके परिणामस्वरूप वह ब्रह्म की या मुक्ति की प्राप्ति करता है। इसके विपरीत गृहस्थ जो संसार में लिप्त रहता है वह पितृयान मार्ग से जाता है और इसी संसार में पुनर्जन्म लेता है। इसी तरह गीता³ ने भी दो मार्ग स्वीकार किये हैं अर्थात् शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग। पूर्ववर्ती मोक्ष का कारण है और परवर्ती पुनर्जन्म का। शुक्लमार्ग आवागमन को समाप्ति की ओर ले जाता है जब कि कृष्णमार्ग जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है।

जैनधर्म⁴ के अनुसार सिद्धगति और चार गतियाँ मानी गयी हैं अर्थात् देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति। पूर्ववर्ती शाश्वत व अपरिवर्तनीय है। इसको प्राप्त करने में आवागमन पूर्णतया समाप्त हो जाता है जब कि परवर्ती संसार में जन्म-मरण का कारण होती हैं।

द्वितीय, परागति⁵ की अनुभूति उस ब्रह्म या आत्मा के समानार्थक है⁶ जो लक्ष्य के रूप में साधी जाती है,⁷ केवल वो ही वांछनीय है,⁸ वो

-
2. छान्दोग्योपनिषद्, 5/10/1, 3, 5
 3. भगवद्गीता, 8/26
 4. समयसार, 1
गोम्मटसार जीवकाण्ड, 145, 151
 5. कठोपनिषद्, 1/3/10
 6. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1/4/8
 7. मुण्डकोपनिषद्, 2/2/2
 8. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 1/1/12

ही अत्यधिक रूप से जानने योग्य है⁹ वो ही चिन्तनीय और दर्शनीय वस्तुओं का विश्राम-स्थल है।¹⁰ भगवद्गीता के अनुसार अमृतमय परमपद,¹¹ ब्राह्मी स्थिति,¹² ब्रह्म निर्वाण,¹³ परम गति,¹⁴ परम शान्ति¹⁵ और परम सिद्धि¹⁶- ये समानार्थक लोकातीत उद्देश्य कहे गये हैं। कठोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म या परम पुरुष या शान्त आत्मा जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि के पार है साधक की यात्रा का उच्चतम उद्देश्य है जिसको जानने के पश्चात् वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है और यही हमारे प्रयत्नों की परिपूर्णता है।¹⁷ शान्त आत्मा या ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गंधरहित है तथा जो शाश्वत, अविनाशी और अनन्त है।¹⁸ जैनधर्म के अनुसार परमात्मा या ब्रह्म उच्चतम आदर्श है। साधक को उसी के बारे में पूछना चाहिए, उसी की इच्छा करनी चाहिए और उसी के शाश्वत ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।¹⁹

जैनदर्शन और उपनिषद्-चिन्तकों के अनुसार परमात्मा का स्वरूप बहुत कुछ समान है। परमात्मा शाश्वत है, दोषरहित है, रूप,

-
9. छान्दोग्योपनिषद्, 8/7/1
 10. प्रश्नोपनिषद्, 4/7, 8, 9
 11. भगवद्गीता, 2/51
 12. भगवद्गीता, 2/72
 13. भगवद्गीता, 5/25
 14. भगवद्गीता, 6/45, 9/32
 15. भगवद्गीता, 4/39
 16. भगवद्गीता, 14/1
 17. कठोपनिषद्, 1/3/10, 11, 2/3/7,8
 18. कठोपनिषद्, 1/3/15
 19. इष्टोपदेश, 49

(4) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

गंध, शब्द, रस और स्पर्श रहित है और जन्म-मरण²⁰ आदि से परे है। कुन्दकुन्द के भावपाहुड का कथन है कि सर्वोच्च आत्मा रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रहित है और चेतना इसका गुण है, किसी भी चिह्न से नहीं पहचानी जा सकती है और उसका आकार अपरिभाषित है।²¹ इतनी समानता होते हुए भी परमात्मा के स्वरूप में जो भेद है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ यह समझना चाहिए कि जैनदर्शन के तात्त्विक दृष्टिकोण के कारण यह विश्व का आधार नहीं हो सकता। आत्मा का तात्त्विक बहुवाद जो जैनदर्शन में बताया गया है उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा अन्तःशक्ति की अपेक्षा ब्रह्म या परमात्मा है।

तृतीय, आनन्द की प्राप्ति साधने योग्य लक्ष्य है। ब्रह्म का आनन्द शांति और शाश्वतता की परिपूर्णता है।²² तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द की तुलना शारीरिक आनन्द से करता है और मनुष्यों, देवताओं आदि के आनन्दों की संख्या जोड़ने के पश्चात् निर्णय करता है कि प्रजापति के सौ आनन्द ब्रह्मानन्द का निर्माण करते हैं।²³ यहाँ यह बताया जा सकता है कि आध्यात्मिक आनन्द अनूठा होता है और किसी भी शारीरिक आनन्द के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

कुन्दकुन्द के अनुसार उच्चतम आनन्द उपमा से परे होता है।²⁴ योगीन्दु का कथन है कि उच्चतम आनन्द की प्राप्ति जो परमात्मा

20. परमात्मप्रकाश, 1/17, 19

21. भावपाहुड, 64

प्रवचनसार, 2/80

पञ्चास्तिकाय, 127

22. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/6

23. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/8

24. प्रवचनसार, 1/13

के ध्यान में अनुभव की जाती है वह सांसारिक जीवन में असंभव है।²⁵

तैत्तिरीयोपनिषद्²⁶ कहता है कि आत्मा की पाँच परतें होती हैं उनमें अंतिम परमानन्दमय आत्मा है। पहली परत भोजन से बनी है, दूसरी प्राणवायु से, तीसरी मन से, चौथी बुद्धि से और पाँचवीं परत आनन्द है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगु ने परमसत्ता के स्वरूप के बारे में वरुण से प्रश्न पूछा। वह जो उत्तर मिला उससे संतुष्ट नहीं हुआ। वह अंतिम रूप से उस समय संतुष्ट हुआ जब उसने उत्तर दिया कि आनन्दमय चेतना सब वस्तुओं का आधार है।²⁷

हम जैनधर्म में प्रतिपादित बहिरात्मा की तुलना- अन्नरसमय, प्राणमय और मनोमय आत्मा से कर सकते हैं। अन्तरात्मा की तुलना हम विज्ञानमय आत्मा से कर सकते हैं और परमात्मा की तुलना आनन्दमय आत्मा से कर सकते हैं यद्यपि परमात्मा विश्व की चेतना नहीं है।

गीता के अनुसार भी आनन्द की प्राप्ति उच्चतम आदर्श है और यह परम मूल्य भी है।²⁸ योगी जिसका मन पूर्णतया शान्त है, जो कषायरहित है, निष्कलंक है, लगातार आत्मा में अपने आपको लगाये रखता है वह ब्रह्म से सम्पर्क होने के कारण उच्चतम आनन्द प्राप्त करता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार आत्मा का ध्यान करने से आनन्द की प्राप्ति होती है।

25. परमात्मप्रकाश, 1/116, 117

तत्त्वानुशासन, 246

26. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/1, 2, 3, 4, 5

27. Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy, P. 301

28. भगवद्गीता, 6/27, 28

(6) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

पूज्यपाद²⁹ और अन्य दूसरे भी आत्मा को उच्चतम आनन्द से भरा हुआ मानते हैं। 'इष्टोपदेश' का कथन है कि जो योगी अपनी आत्मा में स्थित होता है वह उच्चतम आनन्द प्राप्त करता है।³⁰ योगीन्दु का 'योगसार' मानता है कि जो ध्यान में लगे हुए हैं वे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त करते हैं। 'तत्त्वानुशासन' का कथन है कि आत्मा को आत्मा के द्वारा देखने से और उच्च एकाग्रता होने पर बाहरी वस्तुओं के होते हुए भी सिवाय आनन्द के उसको कुछ भी अनुभव नहीं देता।³¹ पूज्यपाद के अनुसार जो योगी ध्यान में डूब जाता है वह शारीरिक चेतना से परे हो जाता है।³²

इस प्रकार गीता, उपनिषद् और जैनधर्म आनन्द की प्राप्ति के संबंध में उल्लेखनीय समानता व्यक्त करते हैं किन्तु जैनदर्शन के अनुसार वस्तुएँ आत्मा पर आश्रित नहीं हैं या उनका उससे तादात्म्य नहीं है।

चतुर्थ, मुण्डकोपनिषद्³³ परा विद्या और अपरा विद्या में भेद करता है और परा विद्या के पक्ष में यह निर्णय करता है कि यह आचार के उच्चतम आदर्श को निर्धारित करती है जिसका अनुभव करने से दूसरी सभी वस्तुएँ जान ली जाती हैं। परा विद्या जो उच्च ज्ञान के सदृश होती है वह ऐसे ब्रह्म को बताती है जो अदृश्य है, अग्राह्य है, असंबंधित है, रंग और आकृति से रहित है, नेत्र और कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों से और हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों से रहित है, नित्य है, सर्वव्यापी है, अत्यन्त

29. समाधिशतक, 32

30. इष्टोपदेश, 47

31. योगसार, 97

तत्त्वानुशासन, 170, 172

32. इष्टोपदेश, 42

33. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/3, 4 व शंकर की टीका सहित

सूक्ष्म है, अविनाशी और समस्त प्राणियों का परम कारण है।³⁴ यह ब्रह्म का बौद्धिक ज्ञान नहीं है किन्तु उसका अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान है। अपरा विद्या का संबंध निम्न कोटि के ज्ञान से है जिसके अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि का ज्ञान सम्मिलित है।³⁵

परा विद्या उच्चतम आदर्श है जिसकी पुष्टि नारद और सनत्कुमार का वार्तालाप जो छान्दोग्योपनिषद्³⁶ में दिया गया है उससे होती है जिसमें कहा गया है कि विविध विषयों जैसे इतिहास, गणित, तर्कशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करते हुए भी नारद शोक को जीतने में असमर्थ है क्योंकि उसको आत्मा का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार हम समझते हैं कि आत्मा का अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान ही दुःख के सागर से हमको पार कराने में समर्थ है, केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं। अतः परा विद्या उच्चतम अनुभव है और उदात्त आदर्श है। यहाँ यह समझना चाहिए कि बौद्धिक ज्ञान को पूर्णतया निन्दित नहीं किया जाना चाहिए किन्तु इसको अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। जब उच्चतम आदर्श की प्राप्ति हो जाती है तो अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान बौद्धिक ज्ञान का स्थान ले लेता है।

हम इन सब बातों की समानता जैनदर्शन में वहाँ देखते हैं जहाँ कुन्दकुन्द कहते हैं कि शुद्धनय (निश्चयनय) सत्य है और व्यवहारनय असत्य है।³⁷ शुद्धनय आत्मा का अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान है व्यवहारनय आत्मा के एकत्व में भेद उत्पन्न करता है। वे साधक जो रहस्यात्मक

34. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/5, 6 व शंकर की टीका सहित

35. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/5

36. छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/2, 3

37. समयसार, 11

अनुभव की पूर्ण ऊँचाई पर पहुँच चुके हैं उनके लिए शुद्धनय का ज्ञान उपयोगी है किन्तु जो साधक इतनी ऊँचाई पर नहीं पहुँचे हैं उनको व्यवहारनय का आश्रय लेना चाहिए।³⁸ इस प्रकार अपरा विद्या और व्यवहारनय वहीं तक सत्य है जहाँ तक वे हमको बौद्धिक रूप से आगे ले जाते हैं किन्तु वे अंतिम नहीं हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति गृहस्थावस्था छोड़कर संन्यास धारण करता है उसी प्रकार व्यवहारनय निश्चय के पक्ष में छोड़ दिया जाता है।³⁹

निश्चय और व्यवहार का एक दूसरा अर्थ भी जैन ग्रन्थों में दिया गया है। उसके अनुसार आध्यात्मिक अनुभव इन दोनों बौद्धिक दृष्टिकोणों से परे जाता है।⁴⁰ अमृतचन्द्र कहते हैं कि शिष्य का ज्ञान उसी समय उचित कहा जायेगा जब वह निश्चय और व्यवहार के स्वभाव को समझकर उन दोनों के प्रति उपेक्षा भाव धारण करेगा अर्थात् वह इन बौद्धिक दृष्टियों से परे चला जायेगा।⁴¹ इस व्याख्या के अनुसार हमारे विचार से अपरा विद्या दोनों नयों के समानार्थक है और परा विद्या आध्यात्मिक अनुभव के अनुरूप है।

संक्षेप में परा विद्या या अपरा विद्या के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि शुद्धनय अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव है जो परा विद्या के अनुरूप है और व्यवहारनय बौद्धिक ज्ञान है जो अपरा विद्या के अनुरूप है। अतः परा विद्या या शुद्धनय को हम नैतिक आदर्श के रूप में समझ सकते हैं जिसका भेद अपरा विद्या या व्यवहारनय से किया जाना चाहिए।

38. समयसार, 12

39. परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ 30

40. समयसार, 142

41. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 34

पाँचवाँ, मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि जिसने ब्रह्म का अनुभव कर लिया है उसने सभी पुण्य और पाप को त्याग दिया है और सम्पूर्ण समता भाव की प्राप्ति की है।⁴² उसी प्रकार कठोपनिषद् कहता है कि परमात्मा धर्म-अधर्म से परे है।⁴³ गीता के अनुसार ब्रह्म का अनुभव शुभ-अशुभ से मुक्त कर देता है।⁴⁴ जब आत्मा सत्त्व, रज और तम से परे होता है तो वह जन्म-मरण, वृद्धावस्था व दुःख से मुक्त हो जाता है और शाश्वत जीवन को प्राप्त करता है।⁴⁵ इस तरह मनुष्य की उपलब्धियों की पूर्णता इस बात में है कि वह नैतिक स्तर से परे हो जाता है और आध्यात्मिक स्तर की प्राप्ति कर लेता है।⁴⁶

गीता, उपनिषद् और जैनधर्म इस बात में समान है कि लोकातीत जीवन पुण्य-पाप से परे होता है। कुन्दकुन्द के अनुसार सांसारिक मनुष्य अशुभ को पाप कहते हैं और शुभ को पुण्य कहते हैं किन्तु पुण्य भी मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में डाल देता है।⁴⁷ जिस प्रकार बेड़ी लोहे की हो या सोने की, मनुष्य को बाँधती है उसी प्रकार शुभ-अशुभ चारित्र आत्मा को संसार में भ्रमण कराता है।⁴⁸ अतः प्रज्ञावान पुरुष शुभ-अशुभ दोनों को छोड़ देता है।⁴⁹ ऐसे मनुष्य बहुत विरल होते हैं जो

-
42. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/3
 43. कठोपनिषद्, 1/2/14
 44. भगवद्गीता, 9/28, 2/50
 45. भगवद्गीता, 14/20
 46. भगवद्गीता, 2/45, 14/14, 15, 18
 47. समयसार, 145
 48. समयसार, 146
 49. योगसार, 72

पुण्य को भी पाप की तरह छोड़ दें।⁵⁰ पूज्यपाद कहते हैं कि अत्रत से पाप होता है और व्रतों के पालन से पुण्य होता है किन्तु मुक्ति दोनों के त्याग से उत्पन्न होती है।⁵¹ साधक को अत्रत को टालने के लिए व्रतों को अपनाना चाहिए और उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए।⁵² परमात्मा की अवस्था पुण्य-पाप से परे होती है और ऐसे व्यक्ति जिन्होंने परमात्मा का अनुभव कर लिया है वे संसार-चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

छठा, नैतिक आदर्श कर्मों के रूप में व्यक्त किया गया है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि एक मनुष्य को अपने सौ वर्ष के जीवन में कर्मों को लगातार करते रहना चाहिये।⁵³ भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग या सक्रियता का जीवन उच्चतम आदर्श है। भगवद्गीता का कहना है कि कर्मों को अनासक्ति भाव से और फल की आकांक्षा रहित होकर समतापूर्वक सम्पन्न करना चाहिये।⁵⁴ यहाँ यह समझना चाहिए कि इस प्रकार कर्मों का करना आत्मा में स्थिरता की प्राप्ति से ही संभव हो सकता है। निष्काम कर्म आध्यात्मिक रूप से प्रकाशित जीवन का स्वाभाविक परिणाम है।⁵⁵

जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकर जीवन में सक्रियता के उदाहरण हैं। तीर्थंकर सभी कर्मों को अनासक्त भाव से करते हैं किन्तु जैनधर्म के

50. योगसार, 71

51. समाधिशातक, 83

52. समाधिशातक, 84

53. ईशोपनिषद्, 2

54. भगवद्गीता, 2/47

55. Vedānta explained, Vol. II, P.527

अनुसार सभी भव्य आत्माएँ सक्रियता का जीवन जीने में समर्थ नहीं होती हैं। केवल वे ही आत्माएँ जिन्होंने तीर्थंकर अवस्था प्राप्त की है वे ही कल्याणकारी सक्रियता का जीवन जी सकते हैं जबकि दूसरी आत्माएँ केवल ध्यान में डूबी रहती हैं और उनका प्रभाव प्राणियों पर परोक्ष रूप से ही होता है। इस तरह से जैनधर्म के अनुसार सक्रियता का जीवन सार्वभौम नहीं हो सकता लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मानव-कल्याण के लिए मुनि के द्वारा किये गये पुण्य कार्य स्वीकार नहीं किये जा सकते।

बाधा के रूप में अविद्या

भगवद्गीता और उपनिषद् द्वारा नैतिक आदर्श की अभिव्यक्तियाँ और उनकी जैनधर्म से तुलना करने के पश्चात् अब हम उच्चतम जीवन की प्राप्ति की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास करेंगे। प्रथम, हम उस बाधा की ओर ध्यान देंगे जो आत्मा की प्राप्ति को अवरुद्ध करती है।⁵⁶ बृहदारण्यकोपनिषद् और कठोपनिषद् का कथन है कि एक ब्रह्म के होते हुए भी जो विश्व में अनेकता को देखता है वह बार-बार मृत्यु के द्वारा ग्रसित होता है।⁵⁷ दूसरे शब्दों में अज्ञानी मनुष्य अपने आपको बुद्धिमान मानता हुआ अविद्या में रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अंधे मनुष्य के द्वारा चलाये जानेवाले अंधे मनुष्य की तरह असहाय होकर भटकता है।⁵⁸ ईशावास्योपनिषद् का कथन है कि उस मनुष्य के लिए जो सब प्राणियों में आत्मा को देखता है और सब प्राणियों को

56. छान्दोग्योपनिषद्, 8/3/3

57. कठोपनिषद्, 2/1/10, 11

बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/19

58. कठोपनिषद्, 1/2/5

आत्मा में देखता है उसमें मोह, शोक और घृणा नहीं होती है।⁵⁹ इस तरह से मिथ्या दृष्टिकोण जो अविद्या से उत्पन्न होता है वह हमें अनेकता को देखने के लिए बाध्य करता है। भगवद्गीता के अनुसार आत्मा प्रकृति के तीन गुणों से तादात्म्य कर लेती है। वह आत्मा के सच्चे स्वरूप को भूल जाती है।⁶⁰ परिणामस्वरूप आवागमन का शिकार हो जाती है। जब योगी इन तीन गुणों से विकृत नहीं होता तब वह सब प्राणियों में आत्मा को देखता है और आत्मा में सब प्राणियों को देखता है। परिणामस्वरूप वह एकत्व का अनुभव करता है और अनेकता विलीन हो जाती है।

जैनधर्म के अनुसार आत्मा और अनात्मा में तादात्म्य सांसारिक जीवन का आधार है। पूज्यपाद का कथन है कि आत्मा पुद्गल से भिन्न है और पुद्गल आत्मा से भिन्न है।⁶¹ मिथ्यात्व अनन्त आवागमन का मूल है। जब लोकातीत आत्मा का अनुभव हो जाता है तो योगी के ज्ञान में सभी पदार्थ झलक जाते हैं किन्तु वह अपनी आत्मा उन पदार्थों में नहीं देखता है। योगीन्दु कहते हैं कि जगत का अस्तित्व परमात्मा के केवलज्ञान में है और वह जगत में है किन्तु वह जगत के रूप में बदलता नहीं है।⁶² सांसारिक वस्तुएँ उच्चतम अनुभव में भी भिन्न रूप से ही उपस्थित रहती हैं। इस बात में जैनधर्म का उपनिषदों और भगवद्गीता से भेद है। जैनधर्म नहीं कहता है कि अनेकता केवल दिखायी देती है किन्तु उसका मानना है कि अनेकता तात्त्विक रूप से निश्चित है, केवल आत्मा को उसके द्वारा भ्रमित नहीं होना चाहिए। यद्यपि अनादिकालीन अविद्या संसार का कारण है तो भी दोनों में अर्थ का अन्तर है। उपनिषद्

59. ईशावास्योपनिषद्, 50

60. भगवद्गीता, 14/5, 7/13, 27

61. इष्टोपदेश, 50

62. परमात्मप्रकाश, 1/41

और भगवद्गीता में अनेकता अविद्या है किन्तु जैनदर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल में तादात्म्य अविद्या है।

जाग्रत और सुप्त आत्माएँ

अब हम संक्षेप में जाग्रत और सुप्त आत्माओं के बारे में विचार करेंगे। कठोपनिषद् के अनुसार सुप्त आत्मा अपनी इन्द्रियों से बाहर देखता है किन्तु जाग्रत आत्मा जो शाश्वतता चाहता है वह इन्द्रियों को अन्दर की ओर मोड़ता है और अपने अन्दर आत्मा को देखता है।⁶³ सुप्त आत्मा इन्द्रिय-सुखों में डूबता हुआ मृत्यु के जाल में फँस जाता है किन्तु जाग्रत आत्मा जिन्होंने अमरपद को जान लिया है वह क्षणिक सुखों के पीछे नहीं भागता है।⁶⁴

समाधिशतक के अनुसार बहिरात्मा (सुप्त) इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों में संलग्न रहता है और शरीर और आत्मा को गड़डमड़ड कर देता है किन्तु अन्तरात्मा (जाग्रत) इन्द्रियों की इस प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करता और आत्मा को देखता है।⁶⁵ इष्टोपदेश का कथन है कि जाग्रत मनुष्य इन्द्रियों के सुखों के लिए प्रयास नहीं करता है किन्तु सुप्त मनुष्य उनसे सुख चाहता है जो उसको निराशा में ले जाता है।⁶⁶

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सुप्त आत्माएँ पुण्य कार्यों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानती हैं और उच्चतम आदर्श का उनको कोई भान नहीं होता है, अतः इस संसार में बार-बार जन्म लेती हैं।⁶⁷ उस मनुष्य की

-
63. कठोपनिषद्, 2/1/1
64. कठोपनिषद्, 2/1/2
65. समाधिशतक, 7, 16
66. इष्टोपदेश, 17
समाधिशतक, 55
67. मुण्डकोपनिषद्, 1/2/10

अज्ञान-ग्रन्थि खुल जाती है जो अपने हृदय में स्थित परम ब्रह्म को जानता है।⁶⁸ कठोपनिषद् का कथन है कि हमें आत्मा को अपने शरीर से अलग करना चाहिए जैसे कोई तलवार को उसकी म्यान से अलग करता है।⁶⁹ कौषीतकी उपनिषद् का कथन है कि जैसे एक चिड़िया घोंसले में रहती है उसी प्रकार यह चेतन आत्मा शरीर में रहता है।⁷⁰

समयसार का कथन है कि (सुप्त) मनुष्य बिना परमार्थ के जाने तप और व्रत का पालन करते हैं अतः उनके तप और व्रत बचकाने होते हैं। वे नहीं जानते कि पुण्य भी संसार में आवागमन का कारण है और वे उसीकी आकांक्षा करते रहते हैं।⁷¹ योगीन्दु के योगसार के अनुसार वे आत्माएँ बहुत विरल होती हैं जो यह जानती हैं कि जिनदेव का निवास शरीर के अन्दर है; वह न तो तीर्थस्थानों में है और न ही मंदिरों में है।⁷² अमितगति का कथन है कि हमको आत्मा से शरीर को अलग करना चाहिए।⁷³ कार्तिकेय के अनुसार शरीर बाहरी आवरण की तरह होता है।⁷⁴

भगवद्गीता के अनुसार प्रथम, जाग्रत मनुष्य शरीर के परिवर्तन से व्याकुल नहीं होता है। वह सोचता है कि जैसे एक व्यक्ति कपड़े बदलता है उसी प्रकार सदेह-आत्मा पुराने शरीर को छोड़ता है और नया

68. मुण्डकोपनिषद्, 2/1/10

69. कठोपनिषद्, 2/3/17

70. कौषीतकी उपनिषद्, 4/20

71. समयसार, 152, 154

72. योगसार, 42, 45

73. अमितगति सामायिक पाठ, 2

74. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 316

शरीर धारण करता है।⁷⁵ जाग्रत पुरुष विचारता है कि आत्मा अजन्मा है, शाश्वत है, नित्य है, सर्वव्यापक है और शरीर के काटने पर भी काटा नहीं जाता है। न यह जलाया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है।⁷⁶

समाधिगतक का कथन है कि अन्तरात्मा ने अपने आपको शरीर से अलग कर लिया है और यह शारीरिक शक्ति को, दुर्बलता को और शरीर के नाश को आत्मा से संबंधित नहीं मानता है।⁷⁷ समयसार के अनुसार सुप्त आत्मा विचारता है कि मैं दूसरे प्राणियों को मारता हूँ या मैं दूसरे प्राणियों द्वारा मारा जाता हूँ।⁷⁸ जैनदर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापक नहीं है।

द्वितीय, जाग्रत आत्मा संकल्पवान होता है किन्तु सुप्त आत्मा की बुद्धि अनेक शाखाओं वाली होती है।⁷⁹ दूसरे शब्दों में जाग्रत आत्मा की बुद्धि सात्त्विक होती है जब कि सुप्त आत्मा की बुद्धि राजसिक और तामसिक होती है।⁸⁰

पूज्यपाद के अनुसार वह मनुष्य जिसकी बुद्धि आत्मा की तरफ झुकने के कारण स्थिर हो गई है⁸¹ आत्मा के द्वारा ही संतोष प्राप्त करता है⁸² और आत्मा को ही निवास-स्थान समझता है।⁸³ वह शरीर के प्रति

75. भगवद्गीता, 2/13, 22

76. भगवद्गीता, 2/19, 20, 25

77. समाधिगतक, 63, 64, 77

78. समयसार, 247

79. भगवद्गीता, 2/41

80. भगवद्गीता, 18/30, 31, 32

81. समाधिगतक, 49

82. समाधिगतक, 60

83. समाधिगतक, 73

आसक्ति त्याग देता है⁸⁴ जिसके फलस्वरूप वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।⁸⁵ इसके विपरीत जिसकी बुद्धि व्याकुल है और आत्मा में स्थित नहीं है⁸⁶ वह अज्ञानवश बाहरी वस्तुओं को संतोष देनेवाला मानता है;⁸⁷ गाँव और जंगल को निवास-स्थान मानता है,⁸⁸ तपों के कारण सुन्दर शरीर को प्राप्त करने की इच्छा करता है⁸⁹ और इस तरह मोक्ष प्राप्त करने में असफल हो जाता है।⁹⁰

तृतीय, सुप्त मनुष्य अपने आपको कर्ता मानता है यद्यपि शारीरिक क्रियाएँ 'प्रकृति' से उत्पन्न होती हैं। जाग्रत मनुष्य अपने आपको कर्ता नहीं मानता।⁹¹ वह अपने आपको कर्मों का अकर्ता मानता है।⁹² उसके अनुसार सर्वोच्च आत्मा सब प्राणियों में निवास करती है;⁹³ वह पुरुष और प्रकृति में भेद करता है।⁹⁴

जैनधर्म के अनुसार आत्मा लोकातीत दृष्टिकोण से शुद्ध भावों का कर्ता होता है और पुद्गल कर्मों से उत्पन्न क्रियाओं द्वारा प्रभावित नहीं होता है। लौकिक दृष्टिकोण से आत्मा पुद्गल कर्मों से उत्पन्न

-
84. समाधिशतक, 42
 85. समाधिशतक, 71
 86. समाधिशतक, 49
 87. समाधिशतक, 60
 88. समाधिशतक, 73
 89. समाधिशतक, 42
 90. समाधिशतक, 71
 91. भगवद्गीता, 3/27, 18/16
 92. भगवद्गीता, 13/31, 32
 93. भगवद्गीता, 13/27
 94. भगवद्गीता, 13/23

शुभ-अशुभ भावों का कर्ता होता है। योगीन्दु परमात्मप्रकाश में कहते हैं कि निश्चयनय के अनुसार बंधन और मोक्ष व सुख और दुःख कर्मों के परिणाम है, इसके विपरीत आत्मा का पुण्यरूप और पापरूप होना व्यवहार दृष्टिकोण से न्यायोचित है।⁹⁵ आत्मा क्रियाओं का अकर्ता है- जैन दृष्टिकोण से यह बात केवल लोकातीत दृष्टि से उचित है। जाग्रत मनुष्य आत्मा को ज्ञान और श्रद्धा से निर्मित मानता है तथा शाश्वत, स्वतंत्र और शुद्ध मानता है। इस प्रकार जानने से वह मोह की गाँठ को नष्ट कर देता है।⁹⁶ वह संसारी वस्तुओं के परिवर्तन से व्याकुल नहीं होता है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जैनधर्म के अनुसार जाग्रत मनुष्य सब आत्माओं को सब वस्तुओं में व्याप्त नहीं मानता है।

आध्यात्मिक जीवन के लिए गुरु की आवश्यकता

आत्मानुभव के मार्ग पर चलने के लिए हम गुरु के महत्त्व पर विचार करेंगे। मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधक को उस गुरु के पास जाना चाहिए जिसने आत्मा का अनुभव कर लिया है।⁹⁷ कठोपनिषद् का विचार है कि आत्मानुभव का मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। परिणामस्वरूप व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान उनसे प्राप्त करना चाहिए जो अनुभव की उच्च पीठिका पर स्थित हैं।⁹⁸ भगवद्गीता में कहा गया है कि गुरु साधक को मोह की अवस्था से अनासक्ति की अवस्था पर ले जाने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

95. परमात्मप्रकाश, 1/60, 64, 65

96. प्रवचनसार, 176

97. मुण्डकोपनिषद्, 1/2/12

98. कठोपनिषद्, 1/3/14

जैनधर्म में भी रहस्यात्मक मार्ग पर चलने के लिए गुरु के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की गई है। वास्तविक अर्थ में आचार्य गुरु हैं। कुन्दकुन्द के भावपाहुड के अनुसार आत्मा के बारे में गुरु से जानकर उस पर ध्यान करना चाहिए⁹⁹

आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक

उपनिषद् और भगवद्गीता में उल्लिखित हम ऐसे प्रेरकों को समझायेंगे जो अमरत्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देते हैं। प्रथम, सांसारिक वैभव की अनित्यता का प्रेरक उस समय कार्यकारी हुआ जब नचिकेता मृत्यु के देवता के प्रलोभन देने पर भी सांसारिक वस्तुओं को अस्वीकृत कर देता है। वह घोषणा करता है कि ये क्षणभंगुर वस्तुएँ दीर्घ-जीवन के होने पर भी निरर्थक सिद्ध होती हैं। परिणामस्वरूप इनसे असंतोष ही उत्पन्न होता है।¹⁰⁰ बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी पृथ्वी के धन-वैभव की अपेक्षा अमरत्व को अधिक चाहती है, क्योंकि वैभव उसको शाश्वत जीवन प्रदान नहीं कर सकता।¹⁰¹ मैत्री उपनिषद् संसार की नश्वरता को चित्रित करता है। उसके अनुसार संसार की वस्तुएँ, समुद्र, पर्वत आदि सभी नश्वर हैं। ऐसे जगत में इच्छाओं के पीछे दौड़ने से क्या लाभ है?¹⁰² उसी प्रकार गीता कहती है कि इन्द्रिय-विषय दुःख का स्रोत होते हैं, उनका प्रारंभ और अंत होता है; अतः ज्ञानी आदमी उनमें स्थायित्व अनुभव नहीं करता है।¹⁰³

99. भावपाहुड, 64

100. कठोपनिषद्, 1/1/23, 24, 25, 26, 27

101. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/2

102. Maitrī-Upaniṣad, 1/4 (Translation vide 'Principal Upaniṣads')

103. भगवद्गीता, 2/14, 5/22

इस प्रेरक की तुलना जैनदर्शन में प्रतिपादित अनित्यता के प्रेरक से की जा सकती है। उत्तराध्ययन¹⁰⁴ का कथन है कि हमें एक क्षण के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य का जीवन स्थायी नहीं है। इस जीवन की समाप्ति ओस की बूंद या पेड़ के उस पत्ते की तरह होती है जो जमीन पर गिर जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय-सुख अनित्य होने के कारण मनुष्य को उसी तरह तिलांजलि दे देते हैं जिस प्रकार एक पक्षी फल के अभाव में उड़ जाता है और पेड़ को छोड़ देता है।¹⁰⁵ भगवती आराधना का कथन है कि भोग और उपभोग की सभी वस्तुएँ बर्फ के ढेर की तरह नष्ट हो जाती हैं और प्रतिष्ठा संसार में अविलम्ब चुक जाती है।¹⁰⁶ जिस प्रकार बहती हुई नदी का पानी वापस नहीं लौटता उसी प्रकार यौवन एक दफा समाप्त होने के बाद पुनः नहीं लौटता।¹⁰⁷ कार्तिकेयानुप्रेक्षा का कथन है कि शरीर पोषित किए जाते हुए भी आवश्यक रूप से बिखर जाता है जैसे बिना पका हुआ मिट्टी का बर्तन पानी भरने के कारण टूट जाता है।¹⁰⁸ मित्र, सौन्दर्य, धन और सभी संबंध अस्थायी होते हैं जैसे नवीन आकृति वाले बादलों का समूह या इन्द्रधनुष या बादलों की बिजली।¹⁰⁹ आत्मानुशासन के अनुसार राजाओं के भाग्य एक दीपक की लौ की तरह क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं।¹¹⁰

104. उत्तराध्ययन, 10/1, 2

105. उत्तराध्ययन, 13/31

106. भगवती आराधना, 1727

107. भगवती आराधना, 1789

108. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 9

109. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 6, 7

110. आत्मानुशासन, 62

द्वितीय, आवागमन आध्यात्मिक प्रेरक माना गया है। जब हम शरीर के रहते हुए आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं तो हमें विभिन्न गतियों में गमन करना पड़ता है।¹¹¹ केनोपनिषद् के अनुसार वह व्यक्ति जो शरीर के रहते हुए आत्मानुभव को प्राप्त नहीं कर सकता वह विनाश की ओर चला जाता है।¹¹² इसी तरह गीता कहती है कि जन्म-मरण के चक्र में वह व्यक्ति फँसा रहता है जो परम ज्ञान के प्रति श्रद्धा नहीं रखता है।¹¹³ वे व्यक्ति जिन्होंने आत्मानुभव कर लिया है इस क्षणभंगुर और दुःखपूर्ण जन्म को प्राप्त नहीं करते हैं।¹¹⁴ अतः इस दुःखमय और अनित्य संसार में आकर व्यक्ति को आध्यात्मिक सत्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।¹¹⁵

इस प्रेरक की तुलना जैनदर्शन के आवागमन के प्रेरक से की जा सकती है। आचारांग के अनुसार “जो व्यक्ति सांसारिक सुखों में आसक्त होते हैं वे बार-बार जन्म लेते हैं”¹¹⁶ और “जो अज्ञान से तो मुक्त नहीं होते और मोक्ष की बात करते हैं वे जन्म-मरण के चक्र में घूमते हैं।”¹¹⁷ उत्तराध्ययन में कहा गया है कि मृगापुत्र के पिता उसके संन्यास ग्रहण करने को निरुत्साहित करते हैं¹¹⁸ तो मृगापुत्र कहता है कि

-
111. कठोपनिषद्, 2/3/4
 112. केनोपनिषद्, 2/5,
 बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/14
 113. भगवद्गीता, 9/2, 3
 114. भगवद्गीता, 8/15
 115. भगवद्गीता, 9/33
 116. आचारांग, 1/4/1 पृष्ठ 36
 117. आचारांग, 1/5/1 पृष्ठ 43
 118. उत्तराध्ययन, 19/24-42

“वह इस संसार में जो कि वृद्धावस्था और मृत्यु का घर है, कई बार जन्म-मरण कर चुका है।”¹¹⁹ परमात्मप्रकाश का कथन है कि जिस व्यक्ति ने पुण्य एकत्रित नहीं किया है और तपों का पालन नहीं किया है उसको नरक में गिरना होगा।¹²⁰ यह एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है यदि मनुष्य जन्म को तप करने के लिए उपयोगी नहीं बनाया गया है। आत्मा तब तक असंख्य जन्मों में फँसी रहती है जब तक उसमें सर्वोच्च ज्ञान का उदय नहीं होता है।¹²¹

तृतीय, मैत्री उपनिषद् शारीरिक अपवित्रता के प्रेरक का उल्लेख करता है। उसके अनुसार यह असारभूत शरीर हड्डी, माँस और रक्तादि से बना हुआ है। ऐसे शरीर में इच्छाओं की तृप्ति से क्या लाभ?¹²² गीता शारीरिक अपवित्रता के बारे में मौन है।

आत्मानुशासन में गुणभद्र का कहना है कि इस शरीर के प्रति राग नहीं करना चाहिए क्योंकि यह एक कारागृह है जो हड्डी, माँस आदि घृणित वस्तुओं से बना हुआ है। शरीर सब बुराइयों की परम्परा का आधार है।¹²³ परमात्मप्रकाश का कहना है कि यह शरीर अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है और उसका शृंगार दुष्ट आदमी का पक्ष लेने के समान व्यर्थ है।¹²⁴ स्वयंभूस्तोत्र के अनुसार शरीर अपनी क्रिया के लिए आत्मा पर निर्भर है, यह घृणित है, विनाशशील है, दुःखों का कारण है। अतः उसके प्रति राग रखना कार्यकारी नहीं है।¹²⁵

119. उत्तराध्ययन, 19/46

120. परमात्मप्रकाश, 2/133, 135

121. परमात्मप्रकाश, 2/123

122. Maitri-Upaniṣad, 1/3 (Translation vide ‘Principal Upaniṣads’)

123. आत्मानुशासन, 59

124. परमात्मप्रकाश, 2/148, 149

125. स्वयंभूस्तोत्र, 32

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का महत्त्व

मनुष्य को आत्मानुभव के मार्ग पर प्रेरणा देनेवाले प्रेरकों पर हमने विचार किया है। अब हम उस मार्ग पर विचार करेंगे जो हमें आत्मानुभूति की प्राप्ति कराने में सहयोगी होता है। दूसरे शब्दों में साधक को इस प्रकार का जीवन जीना अपेक्षित है जिससे नैतिक और आध्यात्मिक विकास की बाधाओं को जीता जा सके। आध्यात्मिक जीवन में विकास के लिए पहली आवश्यकता श्रद्धा है। कठोपनिषद् का कथन है कि मन, वाणी और चक्षुओं से ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब तक कोई यह नहीं कहता है कि 'वह है'।¹²⁶ जब तक वह उसके अस्तित्व को पूर्णतया मान नहीं लेता तब तक वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।¹²⁷ प्रश्नोपनिषद् का कथन है कि आत्मा श्रद्धा, ज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य से खोजी जा सकती है।¹²⁸ अतः केवल श्रद्धा ही नहीं किन्तु ज्ञान और चारित्र भी मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं। गीता के अनुसार वह मनुष्य जिसको परम सत्य में श्रद्धा नहीं है वह जन्म-मरण के चक्र में ही घूमता है।¹²⁹ वे व्यक्ति जिनको पूर्ण श्रद्धा है वे बंधन से मुक्त हो जाते हैं जब कि अश्रद्धावान संसार में भटकते हैं।¹³⁰ केवल वे ही व्यक्ति जो श्रद्धावान हैं; ज्ञान में लीन हैं और जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है वे परम शान्ति प्राप्त करते हैं।¹³¹

126. कठोपनिषद्, 2/3/12

127. कठोपनिषद्, 2/3/13

128. प्रश्नोपनिषद्, 1/10

129. भगवद्गीता, 9/3

130. भगवद्गीता, 3/31, 4/40

131. भगवद्गीता, 4/39

जैनधर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर निर्भर है।¹³² यहाँ यह जानना चाहिए कि उपनिषद् और गीता में उस परम आत्मा में श्रद्धा जोकि विश्व का आधार है वह अन्दर की आत्मा से तादात्म्य रखता है किन्तु जैनधर्म में उस लोकातीत आत्मा में श्रद्धा जो केवल हमारे शरीर में है वह सम्यग्श्रद्धा है। योगीन्दु का कथन है कि आत्मा सम्यग्दर्शन है।¹³³ इस भेद के होते हुए भी सभी परम्पराएँ आत्मजाग्रति और दिव्यत्व की प्राप्ति में विश्वास करती हैं।

श्रद्धा को हृदयंगम करने के पश्चात् ज्ञान और चारित्र को ग्रहण करने का उद्देश्य बनाया जाना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मा जो शरीर के अन्दर है, कान्तिमय है, शुद्ध है, जो आवश्यकरूप से उचित ज्ञान, सत्य, तप और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।¹³⁴ इसके अतिरिक्त यह उनके द्वारा अनुभव की जा सकती है जिन्होंने सभी दोषों और सभी इच्छाओं को नष्ट कर दिया है।¹³⁵ केवल बौद्धिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है, यह कहीं नहीं पहुँचाता है। कठोपनिषद् का मानना है कि आत्मा न तो प्रवचन के द्वारा, न सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा और न अधिक सीखने के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।¹³⁶ वह जो पाप क्रियाओं से निवृत्त नहीं हुआ है जिसका मन शान्त और संतुलित नहीं है वह गहन

132. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1

133. परमात्मप्रकाश, 1/96

134. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/5

135. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/5

कठोपनिषद्, 2/3/14

136. कठोपनिषद्, 1/2/23

मुण्डकोपनिषद्, 3/2/3

बुद्धि के होते हुए भी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।¹³⁷ मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि आत्मा का अनुभव उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता जो शक्तिहीन या अकर्मण्य या अनुचित तपस्या से युक्त है।¹³⁸ गीता के अनुसार जो ज्ञान चक्षुवाले हैं वे ही अन्तःस्थित आत्मा को देख सकते हैं।¹³⁹ ज्ञान तीन प्रकार का माना गया है। सात्त्विक ज्ञान सारे अस्तित्व में एक अपरिवर्तनीय सत्ता को देखता है, उसका भेद राजस से किया जाना चाहिए जो अस्तित्व की विविधता को देखता है और तामस से भी किया जाना चाहिए जो एक वस्तु को ही पूर्ण मानकर देखता है।¹⁴⁰ गीता के अनुसार सात्त्विक ज्ञान उचित ज्ञान है। अनुशासनहीन व्यक्ति के द्वारा दिव्य अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती है।¹⁴¹ और पाप कर्मों को करनेवाले जो माया से भ्रमित हैं और जो दुष्ट स्वभाववाले हैं वे उच्च अवस्था प्राप्त नहीं कर सकते जब कि शांति उनके द्वारा अनुभव की जा सकती है जिन्होंने सभी इच्छाओं को त्याग दिया है और जो आसक्ति, अभिमान और स्वार्थ से रहित है।¹⁴² इच्छा क्रोध को उत्पन्न करती है और ज्ञान को ढँक देती है, परिणामस्वरूप वह आत्मा की नित्य शत्रु है।¹⁴³

137. कठोपनिषद्, 1/2/24

138... मुण्डकोपनिषद्, 3/2/4

139. भगवद्गीता, 15/10

140. भगवद्गीता, 18/20, 21, 22

141. भगवद्गीता, 15/11

142. भगवद्गीता, 7/15, 2/71

143. भगवद्गीता, 3/37, 38, 39

मोक्षपाहुड का कथन है कि चेतन और अचेतन के भेद का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।¹⁴⁴ इनका भेद जैनदर्शन के तात्त्विक चिन्तन के अनुरूप है। अकेला न तो ज्ञान और न ही तप लाभदायक है लेकिन दोनों के संयुक्त होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है¹⁴⁵ और अधिक स्पष्ट करें तो शील और ज्ञान एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं बल्कि सम्यग्श्रद्धा, ज्ञान, तप, आत्मसंयम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष और प्राणियों के लिए करुणा— ये सभी शील के परिवार हैं।¹⁴⁶ केवल उस योगी के द्वारा ही आत्मा का अनुभव किया जा सकता है जो पशु-प्रवृत्तियों¹⁴⁷ से अलग है और जिसने सभी दोषों को छोड़ दिया है।¹⁴⁸ वह चारित्ररूपी तलवार से पापरूपी खंभों को काट देता है।¹⁴⁹ व्याकरण, छंद और न्याय के ज्ञान से शील अधिक महत्त्व का माना गया है।¹⁵⁰ पर से संबंधित मानसिक अवस्था को त्यागे बिना शास्त्रों का ज्ञान भी उपयोगी नहीं है।¹⁵¹ मूलाचार का कथन है कि शास्त्र का ज्ञान अनासक्ति के बिना व्यर्थ होता है जैसे अंधे मनुष्य के हाथ में दीपक होता है।¹⁵² योगसार के अनुसार अनासक्ति के बिना बौद्धिक अध्ययन, पुस्तकों को रखना और धार्मिक स्थान में रहना धर्म नहीं कहा जा सकता है।¹⁵³ जो व्यक्ति राग-

-
144. मोक्षपाहुड, 41
 145. मोक्षपाहुड, 59
 146. शीलपाहुड, 2, 19
 147. मोक्षपाहुड, 66
 148. भावपाहुड, 85
 149. भावपाहुड, 159
 150. शीलपाहुड, 16
 151. योगसार, 96
 152. मूलाचार, 894, 933
 153. योगसार, 47

द्वेष को त्यागता है, आत्मा को निवास-स्थान मानता है वह शाश्वत गति की ओर गमन करता है।¹⁵⁴ मोक्षपाहुड के अनुसार जो क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त है, जो परिग्रह, आसक्ति, सांसारिक पापकर्मों से रहित है, जिसने परीषहों को सहन किया है वह मोक्षमार्ग में स्थित है और सर्वोच्च आनन्द को प्राप्त करता है।¹⁵⁵ अतः चारित्र का महत्त्व स्पष्ट है।

चारित्र का निषेधात्मक पक्ष- पापों और कषायों का परिवर्जन

चारित्र के निषेधात्मक पक्ष का संबंध पापों और कषायों के शुद्धीकरण, इन्द्रियों के जीतने और मन के संयम से है। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि सुवर्ण की चोरी करनेवाले, मद्यपान करनेवाले और उनकी संगति करनेवाले पतित होते हैं।¹⁵⁶ प्रश्नोपनिषद् का मत है कि जो न तो कुटिल हैं, न झूठ बोलनेवाले हैं और न ही कपटी हैं उनको ब्रह्म की अनुभूति होती है।¹⁵⁷ इस प्रकार चोर, शराबी, व्यभिचारी, झूठे, कपटी और उनकी संगति करनेवाले सभी नष्ट हो जाते हैं।

जैनधर्म के अनुसार आत्मानुभव के मार्ग के यात्री को मद्य, मांस, मधु, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का कृत, कारित और अनुमोदना से त्याग करना चाहिए।¹⁵⁸

गीता के अनुसार आसुरी संपदा के अन्तर्गत पाखण्ड, अहंकार, क्रोध, कटुवचन और अज्ञान सम्मिलित हैं।¹⁵⁹ आसुरी वृत्तिवाले प्रवृत्ति

154. योगसार, 48

155. मोक्षपाहुड, 45, 80

156. छान्दोग्योपनिषद्, 5/10/9

157. प्रश्नोपनिषद्, 1/1/ 16

158. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 66

159. भगवद्गीता, 16/4

और निवृत्ति में भेद नहीं जानते हैं, उनमें न शौच, न आचार और न सत्य ही होता है।¹⁶⁰ कठिनता से पूर्ण होनेवाली कामनाओं में लीनता और मोह के वशीभूत अनुचित विचार, अशुद्ध संकल्पों से कार्य करना— ये सभी आसुरी सम्पदावाले हैं। सैकड़ों आशापाशों से बँधे हुए, काम—क्रोध में फँसे हुए और अनुचित तरीकों से इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन का संग्रह करते हुए, अपने आपको राजा मानते हुए, धन और जन्म का अहंकार करते हुए, लोभी और हिंसक बने हुए मनुष्य— सभी आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत हैं।¹⁶¹ ऐसे लोग जगत को बिना आधार के मानते हैं और ईश्वर को अयथार्थ मानते हैं। वे परमसत्ता से जो उनमें और दूसरों में छिपी हुई है घृणा करते हैं।¹⁶² यदि विकास करना है तो उपर्युक्त सभी पाप प्रवृत्तियाँ त्यागी जानी चाहिए।

जैनधर्म के अनुसार अशुभ आस्रव की तुलना आसुरी संपदा से की जा सकती है। चार प्रकार की संज्ञा,¹⁶³ तीन प्रकार की अशुभ लेश्या, इन्द्रिय-आसक्ति, आर्त व रौद्र ध्यान, ज्ञान का अनुचित प्रयोग, मोह¹⁶⁴ और तेरह प्रकार की कषायें,¹⁶⁵ और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह अशुभ आस्रव के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। छह लेश्याओं¹⁶⁶ में प्रथम तीन अशुभ हैं और अंतिम तीन शुभ हैं। अब हम तीन प्रकार की

160. भगवद्गीता, 16/7, 10, 11

161. भगवद्गीता, 16/12, 13, 14, 15

162. भगवद्गीता, 16/8, 18

163. आहार, भय, मैथुन और परिग्रह

164. पञ्चास्तिकाय, 40

165. सर्वार्थसिद्धि, 7/9 क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद

166. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 493

अशुभ लेश्याओं का वर्णन करेंगे क्योंकि वे आसुरी संपदा से मेल रखती हैं। **कृष्ण लेश्या**— तीव्र क्रोधी, वैर रखनेवाला, झगड़ालु, दुष्ट, दया व करुणा से रहित व्यक्ति कृष्ण लेश्यावाला होता है।¹⁶⁷ **नील लेश्या**— जो आलसी हो, अभिमानी हो, मायाचारी हो, लालची हो, धोखेबाज हो, निद्रालु हो, इन्द्रिय-विषयों के लिए इच्छुक हो— वह नील लेश्यावाला होता है।¹⁶⁸ **कापोत लेश्या**— जो दूसरों पर क्रोध करता हो, शोक करता हो, डरता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, ईर्ष्यालु हो, दूसरों को सताता हो, चापलूसों से प्रसन्न होता हो, अपने लाभ-हानि को न समझता हो, अपना प्रशंसक हो, चापलूसों को धन देता हो, दूसरों का विश्वास न करता हो— ये सभी कापोत लेश्या के लक्षण हैं।¹⁶⁹ आठ प्रकार के मद हैं जो आसुरी संपदा में सम्मिलित किये जा सकते हैं— ज्ञान मद, प्रतिष्ठा मद, कुल मद, जाति मद, बल मद, ऋद्धि मद या विद्या मद, तप मद और शरीर मद—¹⁷⁰ इन सबको त्यागना चाहिए। गीता से इतनी समानता होते हुए भी जैनधर्म परमात्मा को जगत में स्वीकार नहीं करता है। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है।

चारित्र का निषेधात्मक पक्ष— इन्द्रिय और मन का संयम

कठोपनिषद् का कथन है कि जो बुद्धि रूपी सारथि अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहती जैसे सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े।¹⁷¹ आत्मा को शरीररूपी रथ का

167. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 509

168. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 510, 511

169. गोम्मटसार जीवकाण्ड, 512, 513, 514

170. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 25

171. कठोपनिषद्, 1/3/5

मालिक, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े, विषयों को उनका मार्ग, मन और इन्द्रियों से युक्त आत्मा को 'भोक्ता' कहा गया है।¹⁷² जो व्यक्ति कुशल और दृढ़ चित्तवाला होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन घोड़े।¹⁷³ इसलिए वह जन्म-मरण के चक्र को समाप्त कर देता है और उस परमपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से संसार में वापस नहीं आना है।¹⁷⁴ बृहदारण्यक, केन और तैत्तिरीयोपनिषद् भी आत्मसंयम और आत्मविजय को प्रस्तावित करते हैं।¹⁷⁵

गीता के अनुसार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इच्छा के निवास स्थान हैं। इनके द्वारा वे ज्ञान को आच्छादित करके संसारी आत्मा को मोहित करती हैं।¹⁷⁶ इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष आत्मा के शत्रु हैं।¹⁷⁷ इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करनेवाले की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा के रोकने पर क्रोध उत्पन्न होता है,¹⁷⁸ क्रोध के प्रभाव से मोह पैदा होता है, मोह के कारण स्मृति का नाश होता है, स्मृति से बुद्धि का विनाश होता है और बुद्धि के विनाश से वह स्वयं नष्ट हो जाता है।¹⁷⁹

172. कठोपनिषद्, 1/3/3, 4

173. कठोपनिषद्, 1/3/6

174. कठोपनिषद्, 1/3/8, 9

175. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5/2/1

केनोपनिषद्, 4/4/8

तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/9

176. भगवद्गीता, 3/40

177. भगवद्गीता, 3/34

178. भगवद्गीता, 2/62

179. भगवद्गीता, 2/63

मन बड़ा चंचल, क्रोधी, दृढ़ और बलवान है उसको रोकना वायु को रोकने के समान आसान नहीं है। अभ्यास और अनासक्ति से मन को रोका जाना चाहिए,¹⁸⁰ इन्द्रियों को संयम में रखा जाना चाहिए और इच्छाओं का उन्मूलन किया जाना चाहिए।¹⁸¹ जो व्यक्ति इच्छाओं को जीते बिना इन्द्रियों को बाह्य क्रियाओं से रोकता है वह केवल मिथ्याचारी होता है।¹⁸²

जैनधर्म के अनुसार इन्द्रियों, इच्छाओं और मन का संयम सर्वोच्च प्रगति के लिए आवश्यक है। मनरूपी बंदर को इन्द्रिय-विषयों में जाते हुए जो रोक लेता है उसको इच्छित फल की प्राप्ति हो जाती है।¹⁸³ वास्तव में जो असफल हो जाता है उसके लिए शास्त्र का अध्ययन, तप करना, व्रत पालना और शारीरिक तप- ये सभी व्यर्थ हो जाते हैं।¹⁸⁴ इन्द्रियरूपी ऊँटों को ढीला नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि सुखरूपी घास को चरने के पश्चात् वे फिर आत्मा को पुनर्जन्म में ले जाते हैं।¹⁸⁵ अतः नेता अर्थात् मन को पकड़ लेने पर अन्य सभी इन्द्रियाँ वश में कर ली जाती हैं क्योंकि जड़ को उखाड़ने पर पत्तियाँ आवश्यक रूप से मुरझा जाती हैं।¹⁸⁶ इच्छा ही इन्द्रियों को मदिरा की तरह उत्तेजित करती है।¹⁸⁷ फिर इन्द्रिय-विषयों की इच्छा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न

180. भगवद्गीता, 6/34, 35

181. भगवद्गीता, 3/41

182. भगवद्गीता, 3/6

183. ज्ञानार्णव, 22/23

184. ज्ञानार्णव, 22/28

185. परमात्मप्रकाश, 2/136

186. परमात्मप्रकाश, 2/140

187. ज्ञानार्णव, 17/7

करती हैं।¹⁸⁸ ये कषायें जो रागद्वेष के रूप में प्रगट होती हैं वे मन को मोहित कर देती हैं और स्थिरता से डिगा देती हैं।¹⁸⁹ मनरूपी पक्षी रागद्वेषरूपी पंखों के कट जाने से उड़ने में असमर्थ होता है।¹⁹⁰ रागद्वेषरूपी बीज मोह ही है जो ज्ञान को ढँक देता है, परिणामस्वरूप वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है।¹⁹¹

चारित्र का सकारात्मक पक्ष- सद्गुणों का विकास

अब हम चारित्र के सकारात्मक पक्ष पर विचार करेंगे। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार आत्मसंयम के अतिरिक्त दान और दया का पालन किया जाना चाहिए।¹⁹² छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार तप, दान, आर्जव (सरलता) और सत्यवचन का पालन कर्तव्य है।¹⁹³ कुछ उपनिषद् ब्रह्मचर्य के पालन को भी प्रस्तावित करते हैं।¹⁹⁴ तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार सदाचरण का पालन और पवित्र ग्रंथों का अध्ययन- ये ही सद्गुण हैं।¹⁹⁵ जब शिष्य अध्ययन करने के पश्चात् गुरु से विदा लेता है तब उसको परामर्श दिया जाता है कि वह सत्य बोले, नियमों का आदर करे, पवित्र ग्रंथों के अध्ययन में प्रमाद न करे, कल्याण के मार्ग और

188. ज्ञानार्णव, 22/2

189. ज्ञानार्णव, 23/7

190. ज्ञानार्णव, 23/27

191. ज्ञानार्णव, 23/30

इष्टोपदेश, 7

192. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5/2/3

193. छान्दोग्योपनिषद्, 3/17/4

194. कठोपनिषद्, 1/2/15

प्रश्नोपनिषद्, 1/1/15

195. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/9

विकास के साधनों से न गिरे, वह माता का, पिता का, गुरु का व अतिथि का सम्मान करे, निर्दोष क्रियाएँ करे और अपने गुरु के उच्च आचरण का अनुकरण करे।¹⁹⁶

गीता में उल्लिखित दैवी सम्पदा या सदगुण¹⁹⁷ को हम विभिन्न वर्गों में बाँट सकते हैं जिससे जैनधर्म की सदगुणों की धारणा से तुलना की जा सके। (1) प्रथम वर्ग- इन्द्रिय-विषयों से अपने को हटाना और मन-वचन-काय और बुद्धि का संयम। (2) द्वितीय वर्ग- दान, शान्ति, करुणा और आचार्य उपासना। (3) तृतीय वर्ग- अहिंसा, सत्यवचन, अपरिग्रह, त्याग और दोष देखने का अभाव। इसी के अन्तर्गत कामवासना से मुक्ति, क्रोध, अहंकार, लोभ और भय सम्मिलित हैं। (4) चतुर्थ वर्ग- क्षमा, उदारता, शुद्धता, तप, विनय, शास्त्राध्ययन, आध्यात्मिक ज्ञान, व्यवहार में सरलता। (5) पाँचवाँ वर्ग- जन्म-मरण, वृद्धावस्था और रोग की बुराइयों को समझना। इसके अन्तर्गत ध्यान, संयम, धैर्य, दृढ़ता, अनासक्ति, आध्यात्मिक अनुभव, एकान्त में रुचि, भीड़ में अरुचि, चंचलता का अभाव, मन की पवित्रता, राग-द्वेष से मुक्ति व सभी इष्ट और अनिष्ट घटनाओं में समता भाव।

तीन प्रकार के तप अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस गीता द्वारा उल्लिखित हैं। (1) सात्त्विक तप तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक। (i) शारीरिक तप- पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, आर्जव (व्यवहार में सरलता), ज्ञानी और आध्यात्मिक गुरु

196. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11

197. भगवद्गीता, 13/7, 8, 9, 10, 11; 17/1, 2, 3; 18/51, 52, 53

की पूजा। (ii) वाचिक तप- शास्त्र स्वाध्याय, अनाक्रमक, हितकारी और सत्य वचन। (iii) मानसिक तप- शान्ति, मौन, आत्मसंयम, मन की प्रसन्नता और विचारों की पवित्रता।¹⁹⁸ (2) तप जो दिखावे या आदर प्राप्त करने के लिए किया जाता है राजस होता है।¹⁹⁹ (3) तप जो मोह के वशीभूत किया जाता है, अपने आप को या दूसरे को कष्ट देने के लिए किया जाता है वह तामस होता है।²⁰⁰

तीन प्रकार का दान इस प्रकार है- (1) सात्त्विक दान- जो दान कर्तव्य समझकर तथा स्थान, समय और पात्र के अनुसार तथा बिना किसी अपेक्षा के दिया जाता है।²⁰¹ (2) राजस दान- जो दान अनिच्छापूर्वक, अपेक्षा भाव तथा स्वार्थ के वशीभूत दिया जाता है।²⁰² (3) तामस दान- जो दान घृणापूर्वक, बिना आदर के और समय, स्थान तथा पात्र के बिना विचारे दिया जाता है।²⁰³

तीन प्रकार का त्याग इस प्रकार है- (1) सात्त्विक त्याग- दान, तप और अनासक्तिपूर्वक कर्म।²⁰⁴ (2-3) राजस व तामस त्याग- अज्ञानवश क्रियाओं को त्यागना और दुःख का भय रखना क्रमशः राजस और तामस त्याग कहलाते हैं।²⁰⁵

198. भगवद्गीता, 17/14, 15, 16, 17

199. भगवद्गीता, 17/18

200. भगवद्गीता, 17/5, 6, 19

201. भगवद्गीता, 17/20

202. भगवद्गीता, 17/21

203. भगवद्गीता, 17/22

204. भगवद्गीता, 18/6

205. भगवद्गीता, 18/7, 8

यदि हम जैनधर्म की उपनिषदों से तुलना करें तो हम यह पाते हैं कि दोनों ने स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप कहा है।²⁰⁶ जैनधर्म अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्त मानता है किन्तु उपनिषद् सत्य के पक्ष में सबसे अधिक है। गृहस्थ जो ब्रह्मचर्याणुव्रत, सत्याणुव्रत तथा अतिथिसंविभागव्रत का पालन करता है वह लगभग उपनिषदों के द्वारा शिष्य के लिए निर्देशित है। गीता से तुलना करने पर हम पाते हैं कि प्रथम चार वर्गों की तुलना जैनधर्म में प्रस्तावित विभिन्न सद्गुणों से की जा सकती है अर्थात् तीन गुप्ति (मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति, काय-गुप्ति) इन्द्रियों का संयम, शुभास्रव के कारण, सोलह प्रकार की भावनाएँ, कषायों से मुक्ति, पाँच व्रत अर्थात् अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और सत्य तथा दस धर्म अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। पाँचवें वर्ग की तुलना हम आध्यात्मिक जीवन के लिए कुछ प्रेरकों से कर सकते हैं²⁰⁷ तथा ज्ञान, चारित्र, अध्ययन, ध्यान, तप का महत्त्व,²⁰⁸ एकान्त, धैर्य, सुख व दुःख में समान रहना तथा राग, द्वेष व मोह को जीतने से भी कर सकते हैं।²⁰⁹ सात्त्विक तप की तुलना जैनधर्म में वर्णित अंतरंग तप से की जा सकती है। गीता के तप का विस्तार जैनधर्म के अंतरंग व बाह्य तप के अनुसार नहीं है। जैनधर्म के अनुसार तप का मुख्य उद्देश्य देवत्व को प्रकट करना है। अतः राजस और तामस तप जैनधर्म के दृष्टिकोण से मान्य नहीं हैं।

206. मूलाचार, 409

207. (1) अनित्य वस्तुओं की प्रेरक (अनित्यानुप्रेक्षा), (2) अनिवार्य रूप से मृत्यु की प्रेरक (आस्रवानुप्रेक्षा), (3) आवागमन की प्रेरक संसारानुप्रेक्षा), (4) शारीरिक अशुद्धता की प्रेरक (अशुचि-अनुप्रेक्षा)

208. मूलाचार, 968

209. मूलाचार, 950, 816, 880

अतिथिसंविभागव्रत²¹⁰ और गीता का सात्त्विक दान समान हैं। यह ध्यान देना महत्त्व का है कि सारे शुभ कार्य माया, मिथ्या और निदान-²¹¹ (सांसारिक लाभ की इच्छा) रहित होकर करना चाहिये। सांसारिक लाभ की इच्छा यद्यपि निन्दित की गयी है किन्तु आध्यात्मिक लाभ की प्रशंसा की गयी है²¹² जिससे सभी सदगुण उत्पन्न होते हैं।

चारित्र का सकारात्मक पक्ष- ध्यान

मुण्डकोपनिषद् ध्यान का महत्त्व बताते हुए कहता है कि न तो नेत्रों से, न वाणी से, न दूसरी इन्द्रियों से, न तप से, न किसी कर्म से परमात्मा ग्रहण किया जा सकता है किन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाला व्यक्ति ध्यान से ही परमात्मा का अनुभव कर पाता है।²¹³ श्वेताश्वेतरोपनिषद् के अनुसार परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रखने से माया की निवृत्ति हो जाती है।²¹⁴ भगवद्गीता के अनुसार ऊँचाईयों पर चढ़ने के लिए योगी को सब इच्छाओं को और परिग्रह को तिलांजलि देनी चाहिये। वह मन और इन्द्रियों को जीते और एकान्त में बिना किसी बाधा के परमेश्वर का ध्यान करे।²¹⁵

मोक्षपाहुड कहता है कि जो संसाररूपी भयानक समुद्र को पार करना चाहता है वह सब कषायों को त्यागकर सांसारिक व्यस्तताओं से अपने आपको दूर करके और मौन धारण करके शुद्ध आत्मा का ध्यान

210. सर्वार्थसिद्धि, 7/21, 38, 39

211. सर्वार्थसिद्धि, 7/18

212. अमितगति श्रावकाचार, 20, 21, 22

213. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/8

214. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 1/1/10

215. भगवद्गीता, 6/10, 23, 24, 25, 26

करे।²¹⁶ भावपाहुड के अनुसार ध्यान के द्वारा संसाररूपी वृक्ष का जड़ से उन्मूलन किया जा सकता है ²¹⁷ जिस प्रकार एक दीपक जो हवा से बाधा-रहित है वह जलता रहता है उसी प्रकार ज्ञान का दीपक आसक्ति रूपी वृक्ष के अभाव में जलता रहता है।²¹⁸ परमात्मप्रकाश का कथन है कि आत्मा जो शास्त्रों और इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है वह केवल ध्यान द्वारा प्राप्त होता है।²¹⁹ नैतिक अनुशासन और तपों का पालन करते हुए तथा आगमों का विस्तृत अध्ययन होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन में सफलता ध्यान के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है।²²⁰ जैनधर्म, गीता और उपनिषद् ध्यान को सफलतापूर्वक करने के लिए उचित स्थान, उचित आसन और उचित समय पर समान रूप से विचार करते हैं।

चारित्र का सकारात्मक पक्ष- भक्ति

उपनिषदों में भक्ति के बारे में प्रो. रानाडे का दृष्टिकोण इस प्रकार है- उनका कथन है “उपनिषदों का शुष्क बुद्धिवाद और चिन्तनात्मक दृष्टि उपस्थित है जो भगवद्गीता के युग में समाप्त होती है²²¹ और वहाँ पर परमसत्ता का अनुभव करने के लिए सगुण और निर्गुण भक्ति को साधन माने गये हैं।”²²² अविचल भक्ति तीन गुणों (सात्त्विक,

216. मोक्षपाहुड, 26, 27, 28

217. भावपाहुड, 122

218. भावपाहुड, 123

219. परमात्मप्रकाश, 1/23

220. अमितगति श्रावकाचार, 96

221. Constructive Survey of Upaniṣadic philosophy, P.198

222. भगवद्गीता, 12/2, 5; 11/53, 54

राजस और तामस) से परे जाने के लिए आवश्यक है।²²³ चार प्रकार के भक्त गिनाये गये हैं अर्थात् आर्त भक्त (सांसारिक पदार्थों के लिए भक्ति करनेवाला), जिज्ञासु भक्त (यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भक्ति करनेवाला), अर्थार्थी भक्त (संकट निवारण के लिए भक्ति करनेवाला) और ज्ञानी भक्त (निष्कामी भक्त)।²²⁴ इनमें से ज्ञानी भक्त सबसे उत्तम माना गया है। गीता कहती है कि उच्च विकास के लिए भक्ति को टाला नहीं जा सकता है।

जैनधर्म में भक्ति को सोलह प्रकार की भावनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।²²⁵ मुनि के षट् आवश्यकों के लिए,²²⁶ गृहस्थ के द्वारा प्रतिदिन की जानेवाली जिनपूजा के लिए तथा आध्यात्मिक विकास के लिए भक्ति को आवश्यक माना गया है। मोक्षपाहुड का कहना है कि देव और गुरु की भक्ति में लीन होनेवाला मोक्ष के मार्ग पर स्थित है।²²⁷ इस प्रकार की भक्ति को सगुण भक्ति कहा जा सकता है और निर्गुण भक्ति की तुलना ध्यान से की जा सकती है। गीता के निम्न तीन प्रकार के भक्त- आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी की तुलना जैनधर्म की निदानपूर्वक भक्ति से की जा सकती है। जैनधर्म में प्रतिपादित है कि भक्ति बिना ईश्वर के अस्तित्व के संभव है।

223. भगवद्गीता, 14/26

224. भगवद्गीता, 7/16, 17

225. सोलह प्रकार की भावनाएँ-(1) दर्शनविशुद्धि, (2) विनयसम्पन्नता, (3) शील-व्रतेष्वनतिचार, (4) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, (5) संवेग, (6) शक्तितस्त्याग, (7) शक्तितस्तप, (8) साधु-समाधि, (9) वैयावृत्त्य, (10) अर्हन्त भक्ति, (11) आचार्य भक्ति, (12) बहुश्रुत भक्ति, (13) प्रवचन भक्ति, (14) आवश्यकतापरिहार, (15) मार्गप्रभावना और (16) प्रवचनवात्सल्य।

226. छह आवश्यक- (1) सामायिक, (2) स्तुति, (3) वंदना, (4) प्रतिक्रमण, (5) प्रत्याख्यान और (6) कायोत्सर्ग।

227. मोक्षपाहुड, 52, 82

(38) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

योग या ध्यान के शारीरिक और आध्यात्मिक प्रभाव और प्रसाद का तत्त्व

उज्ज्वल रूप, मधुर वाणी, शरीर में अच्छी गन्ध का होना, हल्का और स्वस्थ शरीर, इन्द्रियासक्ति से निवृत्ति- ये सभी योग या ध्यान के शारीरिक प्रभाव हैं।²²⁸ आध्यात्मिक प्रभाव हैं- सभी प्रकार के दुःखों और शारीरिक बंधनों से छूट जाना जिसका परिणाम ब्रह्म का अनुभव है।²²⁹ लेकिन इस प्राप्ति से पहले ईश्वरीय प्रसाद आवश्यक है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि आत्मा की अनुभूति केवल उसी को होती है जिसको ईश्वर स्वीकार कर लेता है।²³⁰ जब तक परमात्मा का प्रसाद प्राप्त न हो तब तक ईश्वरीय अनुभूति नहीं हो सकती।²³¹ गीता के अनुसार जो योग में सफल होते हैं उनको आध्यात्मिक प्रभाव के रूप में परम शान्ति का अनुभव होता है और जो योग के अपूर्ण अभ्यास के कारण असफल हो जाते हैं वे स्वर्ग में पैदा होते हैं, तत्पश्चात् वे समृद्ध व्यक्तियों के घर में या योगियों के कुल में पैदा होते हैं और अंत में प्रयत्न के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करते हैं।²³² उच्चतम अवस्था प्राप्त करने से पहले ईश्वरीय प्रसाद आवश्यक है।²³³

228. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 2/2/13

229. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 2/2/14, 15

230. मुण्डकोपनिषद्, 3/2/3

कठोपनिषद्, 1/2/23

231. Constructive Survey of Upaniṣadic philosophy, P.345

232. भगवद्गीता, 6/15, 41, 42, 43, 44, 45 18/56, 58, 62

233. भगवद्गीता, 18/56, 58, 62

मोक्षपाहुड का कथन है कि परद्रव्य (आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुओं) से भिन्न स्वद्रव्य (शुद्धात्मा) के ध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है जो तीर्थंकर का मार्ग है।²³⁴ यदि कुछ कमियों के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं भी होता है तो स्वर्ग अवश्य प्राप्त किया जाता है। वहाँ से लौटने के पश्चात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करने से साधक मोक्ष को प्राप्त कर सकेंगे।²³⁵ ऐसा व्यक्ति इस संसार में ज्ञान, धैर्य, सम्पन्नता, स्वास्थ्य, संतोष, शक्ति और सुन्दर शरीर प्राप्त करता है।²³⁶ जैनधर्म में ईश्वरीय प्रसाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है²³⁷ क्योंकि वहाँ तीर्थंकर से ऊपर कोई ईश्वर नहीं है और तीर्थंकर भी राग-द्वेष से मुक्त हैं। इसलिए ईश्वरीय प्रसाद जैन दृष्टिकोण से अमान्य है, केवल ध्यान के प्रयास से ही अन्ततः निर्वाण की प्राप्ति होती है।

पूर्णता-प्राप्त रहस्यवादी की विशेषताएँ

प्रथम, कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि चूँकि पूर्णता-प्राप्त रहस्यवादी ने आत्मा का अनुभव किया है²³⁸ इसलिए वह अपनी आत्मा से सभी प्रकार की इच्छाओं को त्यागने में सफल हुआ है।²³⁹ इस प्रकार वह आत्मा का आत्मा के द्वारा परिपूर्ण संतोष प्राप्त

234. मोक्षपाहुड, 17, 18, 19

235. मोक्षपाहुड, 20, 77
ज्ञानार्णव, 41/26, 27

236. तत्त्वानुशासन, 198

237. मूलाचार, 567

238. कठोपनिषद्, 2/3/14
मुण्डकोपनिषद्, 3/2/2

भगवद्गीता, 2/55

239. भगवद्गीता, 4/19

करता है। गीता के अनुसार उसके सभी कार्य इच्छा-रहित होते हैं। आत्मसंयम, परिग्रह का त्याग और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण²⁴⁰ वह मानव कल्याण के लिए किये गये कर्मों से बंधन प्राप्त नहीं करता है।²⁴¹ दूसरे शब्दों में, वह कर्मों के फल से उसी प्रकार मलिन नहीं होता है जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी से मलिन नहीं होता है।²⁴² संक्षेप में, परिपूर्ण योगी कर्म में अकर्म को देखता है या अकर्म में कर्म को देखता है।²⁴³

जैनधर्म के अनुसार परिपूर्ण रहस्यवादी ने सारी कषायों का उन्मूलन कर दिया है और अनुभव से परितोष प्राप्त किया है।²⁴⁴ उसके मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाएँ न तो इच्छा से प्रेरित होती हैं न अज्ञान से उत्पन्न होती हैं।²⁴⁵ खड़े होने, बैठने, चलने और उपदेश देने, जानने और देखने की क्रियाएँ इच्छा से उत्पन्न नहीं होती हैं। परिणामस्वरूप वे आत्मा को बंधन में डालने में असमर्थ हैं।²⁴⁶ जिस प्रकार एक माँ बच्चे को उसी के लाभ के लिए शिक्षित करती है और एक दयालु चिकित्सक रोगी का इलाज करता है उसी प्रकार पूर्णता-प्राप्त रहस्यवादी विकास के लिए मनुष्य जाति को शिक्षित करता है और दुःखी मानवता के लिए

240. भगवद्गीता, 4/21; 5/7

241. भगवद्गीता, 3/25

242. छान्दोग्योपनिषद्, 4/14/3

243. भगवद्गीता, 4/18

244. स्वयंभूस्तोत्र, 67

बोधपाहुड, 40

245. स्वयंभूस्तोत्र, 74

246. स्वयंभूस्तोत्र, 73

नियमसार, 173, 174, 175

आध्यात्मिक गोलियाँ वितरित करता है।²⁴⁷ वह मानव जाति का नेता होता है।²⁴⁸

द्वितीय, गीता के अनुसार रहस्यवादी के उच्चतम अनुभव ने उसके सारे दुःखों को समाप्त कर दिया है।²⁴⁹ रहस्यवादी सब जगह आत्मा को अनुभव करता है। जैनधर्म के अनुसार रहस्यवादी ने सभी दुःखों को नष्ट कर दिया है क्योंकि उसने संसार की सभी वस्तुओं से आसक्ति को नष्ट कर दिया है।

तृतीय, जैनधर्म, गीता और उपनिषद् में इस बात में समानता है कि आत्मानुभव या ब्रह्म के अनुभव के कारण रहस्यवादी मित्र और शत्रु, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन-मरण, मिट्टी और सोना, राग-द्वेषादि- इन सब द्वैतों से परे हो गया है।²⁵⁰

चतुर्थ, कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् के अनुसार रहस्यवादी के हृदय की सभी गाँठें खुल गयी हैं।²⁵¹ दूसरे शब्दों में, आत्मानुभव की प्राप्ति के कारण रहस्यवादी सभी प्रकार के संदेहों से मुक्त हो गया है।

247. स्वयंभूस्तोत्र, 11, 35

248. स्वयंभूस्तोत्र, 35

249. भगवद्गीता, 2/65; 5/26

ईशावास्योपनिषद्, 7

मुण्डकोपनिषद्, 3/1/2

250. प्रवचनसार, 3/41

स्वयंभूस्तोत्र, 10

कठोपनिषद्, 1/2/12

भगवद्गीता, 6/7, 8, 9; 2/56, 57

251. कठोपनिषद्, 2/3/15

मुण्डकोपनिषद्, 2/2/8

जैनधर्म के अनुसार रहस्यवादी ने अन्तर्दृष्टि से जगत की सभी वस्तुओं को जान लिया है²⁵² परिणामस्वरूप किसी प्रकार के संदेह का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।²⁵³

पाँचवाँ, वह व्यक्ति जिसने रहस्यात्मक ऊँचाइयों पर आरोहण किया है उसने अपना तादात्म्य समता भाव से कर लिया है और पुण्य-पाप के संग्रह से अपने आपको दूर रखा हुआ है।²⁵⁴ बोधपाहुड का कथन है कि अर्हन्त पुण्य-पाप से परे हैं इसलिए समता भाव में स्थित हैं।²⁵⁵

छठा, कठोपनिषद् और गीता मानती है कि पूर्णता-प्राप्त रहस्यवादी असीमित आनन्द का अनुभव करता है।²⁵⁶ मोक्षपाहुड का कथन है कि योगी अहंकार, क्रोध, माया और लोभ को नष्ट करके और शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट आनन्द का अनुभव करता है।²⁵⁷

सातवाँ, गीता कहती है कि जो सब प्राणियों के लिए रात्रि है वह पूर्णता-प्राप्त आत्मा के लिए जागने का समय है और जो सब प्राणियों के लिए जागने का समय है वह पूर्णता-प्राप्त रहस्यवादी के लिए रात्रि है।²⁵⁸ कुन्दकुन्द के अनुसार योगी व्यवहार में सोता है जब कि आत्मानुभव

252. प्रवचनसार, 1/15

253. प्रवचनसार, 2/105

254. भगवद्गीता, 2/50; 5/19

मुण्डकोपनिषद्, 3/1/3

255. बोधपाहुड, 30

256. कठोपनिषद्, 1/2/13

भगवद्गीता, 6/28

257. मोक्षपाहुड, 45

258. भगवद्गीता, 2/69

के कार्य में वह जागता है।²⁵⁹ आचारांग का कथन है कि अज्ञानी सोते हैं, किन्तु मुनि सदैव जागते हैं।²⁶⁰ समन्तभद्र का कथन है कि जीवेषणा से प्रेरित होकर साधारण मनुष्य दिन भर परिश्रम करते हैं और थकने के पश्चात् रात्रि में सो जाते हैं किन्तु रहस्यवादी आत्मशुद्धि और आत्मानुभव की प्रक्रिया में प्रमाद, अकर्मण्यता और शिथिलता के वशीभूत हुए बिना रात और दिन जागता है।²⁶¹ इतना होते हुए भी गीता, उपनिषद् और जैनधर्म में मौलिक भेद यह है कि जैनधर्म में वर्णित रहस्यवादी आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् भी आत्मा को सब जगह नहीं देखता है।

आठवाँ, मुनि जिसने उच्च अवस्था को प्राप्त कर लिया है वह चञ्चल की तरह दृढ़ होता है। कोई भी वस्तु जो उससे टकराती है नष्ट हो जाती है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार वह व्यक्ति जो पवित्र आत्माओं की निन्दा करता है वह अपने आपको नष्ट कर देता है।²⁶² इसी प्रकार समन्तभद्र का कथन है कि वह व्यक्ति जो उच्च आत्माओं पर झूठा आरोप लगाता है, बर्बादी की ओर जाता है।²⁶³

नवाँ, मुण्डकोपनिषद् कहता है कि जो मनुष्य समृद्धि चाहता है उसे उस रहस्यवादी की जिसने आत्मानुभव प्राप्त कर लिया है, पूजा करनी चाहिये।²⁶⁴ जैनधर्म के अनुसार रहस्यवादी का पवित्र नाम ही शुभ और इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होता है।²⁶⁵

259. मोक्षपाहुड, 31

260. Ācārāṅga-Sūtra, 1.3,1, P.28

261. स्वयंभूस्तोत्र 48

262. छान्दोग्योपनिषद्, 1/2/8

263. स्वयंभूस्तोत्र, 69

264. मुण्डकोपनिषद्, 3/1/10

265. स्वयंभूस्तोत्र, 7

दसवाँ, गीता के अनुसार रहस्यवादी जो आत्मा में आनन्द लेता है और जो आत्मा में संतुष्ट है उसके द्वारा अब कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है। वह जगत की वस्तुओं को अपने लिए नहीं चाहता है।²⁶⁶ जैनदर्शन के अनुसार मुनि ने वह कर लिया है जो उसे ध्यान के द्वारा किया जाना चाहिये था।²⁶⁷

विभिन्न दर्शनों में मोक्ष की धारणा

हम न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, शंकर-वेदान्त और प्रारंभिक बौद्ध दर्शन के मोक्ष की धारणाओं पर विचार करेंगे। यद्यपि इन दर्शनों में प्रारंभिक पूर्वमीमांसा के सिवाय सभी दर्शन मोक्ष को मानव-जीवन का उच्चतम आदर्श मानते हैं किन्तु इनके स्वरूप के वर्णन में अत्यधिक भेद है। कुछ दर्शन इसका निषेधात्मक रूप से निरूपण करते हैं अर्थात् दुःख से मुक्ति या संसार के जाल से छूटना। जब कि दूसरे दर्शन इसको सकारात्मक रूप से समझाते हैं अर्थात् आनन्द की प्राप्ति। पूर्ववर्ती दृष्टि के समर्थक हैं वैशेषिक, प्रारंभिक नैयायिक, सांख्य-योग और उत्तरकालीन मीमांसकों में से कुछ और प्रारंभिक बौद्ध दर्शन। परवर्ती दृष्टिकोण में जैनदर्शन, उत्तरकालीन नैयायिक व मीमांसक और अद्वैत वेदान्त सम्मिलित हैं। ये दर्शन न केवल मोक्ष के स्वरूप में भिन्न होते हैं किन्तु वे इस लोक में या परलोक में मोक्ष की प्राप्ति की संभावना में भी भिन्न हैं। पूर्ववर्ती दृष्टि जीवनमुक्ति कहलाती है जब कि परवर्ती दृष्टि विदेहमुक्ति कहलाती है। जैनदर्शन, अद्वैत वेदान्त, सांख्य-योग और बौद्ध दर्शन दोनों दृष्टियों को स्वीकार करते हैं जब कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा केवल परवर्ती दृष्टि को ही मानते हैं।

266. भगवद्गीता, 3/17, 18

श्वेताश्वेतरोपनिषद्, 2/2/14

267. स्वयंभूस्तोत्र, 110

न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा स्वतंत्र अस्तित्व रखती है जिसमें इच्छा, द्वेष, संकल्प, सुख-दुःख और ज्ञान के गुण सम्मिलित हैं। ये गुण आत्मा में शाश्वत रूप से नहीं रहते हैं किन्तु जब आत्मा शरीर धारण करती है तब ही ये उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चेतना या ज्ञान आदि आत्मा के आगन्तुक गुण हैं,²⁶⁸ परिणामस्वरूप मोक्ष की अवस्था में ये लुप्त हो जाते हैं। नैयायिक उद्योतकर का कथन है कि शाश्वत सुख के अनुभव के लिए मोक्ष में शाश्वत शरीर की आवश्यकता है क्योंकि अनुभव बिना शरीर के संभव नहीं है।²⁶⁹ उद्योतकर के कथन से यह परिणाम निकलता है कि मुक्ति शरीर के रहते संभव नहीं है। किन्तु उद्योतकर और वात्स्यायन दोनों ही जीवनमुक्ति के अनुरूप एक स्थिति को मानते हैं अर्थात् ऐसा व्यक्ति शरीर-रहित तो नहीं होगा किन्तु संकुचित प्रेम और घृणा उसके जीवन में समाप्त हो जायेगी, साथ में स्वार्थपूर्ण क्रिया भी।²⁷⁰ यहाँ यह कहना उचित होगा कि इस मुक्ति की निषेधात्मक धारणा को परवर्ती नैयायिकों जैसे भासर्वज्ञ आदि ने भी अमान्य कर दिया है और इन सभी ने सकारात्मक आनन्द की अवस्था को स्वीकार किया है।²⁷¹

पूर्व मीमांसक जैमिनी और शबर मोक्ष की समस्या से संबंधित नहीं रहे किन्तु उन्होंने स्वर्ग को ही मनुष्य का उच्चतम उद्देश्य माना। परवर्ती मीमांसक कुमारिल और प्रभाकर ने मोक्ष को जीवन का आदर्श

268. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 1/1, 10

269. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 1/1, 4, 58

270. Outlines of Indian Philosophy, P.266

271. न्यायसार, पृष्ठ 39, 40, 41; तुलना. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 1/1, 4, 58

बताया। न्याय-वैशेषिक के समान मीमांसकों ने यह माना कि चेतना आत्मा में स्वाभाविक नहीं है। अतः मोक्ष सुख-दुःख-रहित होता है।²⁷² कुछ दूसरे मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष केवल दुःख से निवृत्ति नहीं है किन्तु उसमें शाश्वत आनन्द भी होता है।²⁷³

सांख्य-योग मोक्ष की निषेधात्मक धारणा को प्रतिपादित करते हैं किन्तु चेतना को आत्मा का स्वभाव बताते हैं। न्याय-वैशेषिक और पूर्व मीमांसा की तरह वे चेतना को एक पृथक्करणीय गुण नहीं मानते। मुक्ति आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि पुरुष सब गुणों से स्वतंत्र माना गया है।²⁷⁴ जब विवेक उत्पन्न होता है तो प्रकृति तुरन्त पुरुष को नहीं छोड़ देती है। उसका कार्य कुछ समय तक पूर्व आदत के वेग के कारण चलता रहता है।²⁷⁵ यह जीवनमुक्ति की स्थिति है। मरण होने पर जीवनमुक्त विदेहमुक्ति प्राप्त करता है जो पूर्णरूप से दुःख से रहित होती है।²⁷⁶

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य है, जो सार्वलौकिक सत्ता है। इसमें केवल दुःख का अभाव ही नहीं होता किन्तु यह आनन्द की सकारात्मक अवस्था है। कोई भी व्यक्ति इस अवस्था को संसार में शरीर के रहते हुए प्राप्त कर सकता है।

272. Śāstradīpikā, P.188

273. Śāstradīpikā, P.126, 127

274. Sāmkhyapravacana Sūtra, 5/74

(vide Radhakrishnan, 1. P. Vol. II. P. 313)

275. सांख्यकारिका, 67

276. सांख्यकारिका, 68

बौद्ध दर्शन के अनुसार मोक्ष की दृष्टि को हम आगे समझायेंगे।

जैनदर्शन के अनुसार अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि की प्राप्ति मोक्ष में होती है। शरीर के रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति के उदाहरण तीर्थंकर हैं। विदेहमुक्ति की अवस्था सिद्धत्व कहलाती है।

विभिन्न दर्शनों में अविद्या की धारणा

हम यहाँ सांसारिक अवस्था के लिए उत्तरदायी सिद्धान्त पर विचार करेंगे। इस सिद्धान्त को अविद्या कहा जाता है जो भौतिकवादियों के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। उसी कारण आत्मा जन्मों के चक्र में घूमता है और वही जीवन के आनन्ददायक पक्ष को ढक लेता है। यद्यपि अविद्या का कार्य वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डालना माना गया है फिर भी उसका स्वरूप दर्शनों की तत्त्वमीमांसक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न माना गया है।

न्यायदर्शन के अनुसार मोह जिसको मिथ्याज्ञान कहा गया है (वह) सांसारिक जीवन का कारण है।²⁷⁷ यह राग और द्वेष को उत्पन्न करता है जो मन-वचन-काय की क्रिया का कारण होता है।²⁷⁸ यह प्रवृत्ति (संकल्पात्मक क्रिया) धर्म और अधर्म को उत्पन्न करती है जो एकत्रित हो जाती है जिसके फलस्वरूप अगले जन्म में नये शरीर का निर्माण होता है।²⁷⁹ यह जन्म दुःखपूर्ण होता है। मिथ्याज्ञान के स्वरूप के बारे में वात्स्यायन का कथन है- अनात्मा को आत्मा मानना। इस त्रुटिपूर्ण ज्ञान से 'मैं शरीर हूँ' यह माना जाता है। इसके प्रभाव में आत्मा

277. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 4/1/3

278. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 4/1/6

279. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 3/2/60

शरीर से, इन्द्रियों से, भावों से और ज्ञान से तादात्म्य कर लेता है।²⁸⁰ वैशेषिक न्यायदर्शन के विचार को ही स्वीकार करता है। पूर्वमीमांसा के अनुसार निषिद्ध और काम्य कर्म करना व नित्य और नैमित्तिक कर्मों को न करना बंधन का कारण है।²⁸¹

सांख्य-योग के अनुसार पुरुष और प्रकृति में भेद न करना दुःख का कारण है। इन दोनों को गड्ढा-मड्डा करना अविद्या के कारण होता है जिसके फलस्वरूप कोई व्यक्ति अशाश्वत को शाश्वत मानता है; अशुद्ध को शुद्ध मानता है; दुःख को सुख मानता है तथा अनात्मा को आत्मा मानता है।²⁸² योग दर्शन के अनुसार अविद्या क्लेश है और अन्य चार प्रकार के क्लेशों का आधार है अर्थात् अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (जीवेषणा)।²⁸³ पुरुष और बुद्धि का तादात्म्य अहंकार है या पुरुष को कर्ता व भोक्ता मानना अहंकार है;²⁸⁴ सुखों में आसक्ति राग है;²⁸⁵ पूर्व दुःख के प्रति क्रोध द्वेष है;²⁸⁶ मृत्यु के कारण शरीर व सुख के विषयों को खोने का भय अभिनिवेश है।²⁸⁷ इस प्रकार क्लेश से संसार व उसके दुःख बढ़ते हैं। शंकराचार्य के अनुसार अविद्या का अर्थ है कि प्रकाशमान विषयी पर विषय का आरोप और विषय पर विषयी का आरोप अर्थात् 'मैं यह हूँ' और 'यह मेरा है'। बौद्ध दर्शन की

280. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 4/2/1; भूमिका, पृष्ठ 762, 763

281. Indian Philosophy, 1.P.Vol.II. P. 418

282. योगसूत्र, 2/5, 24

283. योगसूत्र, 2/3, 4

284. योगसूत्र और भाष्य, 2/6

285. योगसूत्र और भोजवृत्ति, 2/6, 7

286. योगसूत्र और भाष्य, 2/8

287. योगसूत्र और भोजवृत्ति, 2/9

अविद्या के बारे में आगे विचार करेंगे। यहाँ हम केवल यह बता देना चाहते हैं कि बौद्ध दर्शन के अनुसार अविद्या का संबंध दुःख को सुख मानने में है और क्षणिकता को नित्यता मानने में है।

जैनधर्म के अनुसार सांसारिक जीवन के आधार हैं- मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। ये तीनों सांसारिक जीवन के लिए उत्तरदायी हैं। मिथ्यादर्शन विपरीत श्रद्धा है; मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञान है और मिथ्याचारित्र विपरीत चारित्र है। मिथ्याज्ञान संसार का आधार नहीं है किन्तु मिथ्यादर्शन है अर्थात् शरीर से भिन्न आत्मा में अश्रद्धा है। इस अश्रद्धा के कारण ज्ञान और चारित्र विपरीत हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में गंभीर ज्ञान और अनुशासनात्मक चारित्र ऊँचाई पर ले जाने में असमर्थ है। अविद्या जो मिथ्याज्ञान का पर्यायवाची है वह संसार का कारण है किन्तु यह दृष्टिकोण जैनदर्शन को मान्य नहीं है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

सभी जैनेतर भारतीय दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए उचित ज्ञान को समान रूप से महत्त्व देते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा कुछ क्रियाओं के करने को अतिरिक्त महत्त्व देते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार सोलह पदार्थों²⁸⁸ का ज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है। सांख्य-योग के अनुसार

288. सोलह पदार्थ हैं- (1) प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द), (2) प्रमेय (आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ- भोग की जानेवाली वस्तुओं का समूह, बुद्धि- भोग-ज्ञान, मन, प्रवृत्ति-मन, वचन तथा शरीर का व्यापार, दोष- जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है, प्रेत्यभाव-पुनर्जन्म, फल-सुख-दुःख का संवेदन, दुःख-इच्छाविधातजन्य पीड़ा और अपवर्ग-दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति), (3) संशय, (4) प्रयोजन, (5) दृष्टान्त, (6) सिद्धान्त, (7) अवयव, (8) तर्क, (9) निर्णय, (10) वाद, (11) जल्प, (12) वितण्डा, (13) हेत्वाभास, (14) छल, (15) जाति और (16) निग्रहस्थान। (देखें न्याय सूत्र, 1.1.1; 1.1.3; 1.1.9, भारतीय दर्शन, पृष्ठ-202)

(50) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

पुरुष और प्रकृति में भेद मोक्ष की ओर ले जाता है।²⁸⁹ सांख्यकारिका का कथन है कि यह ज्ञान कि 'मैं नहीं हूँ', 'मेरा कुछ नहीं है' और 'अहंकार का अस्तित्व नहीं है' मोक्ष की ओर ले जाता है।²⁹⁰ पूर्वमीमांसा के अनुसार काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों को त्यागना और नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करना संसार के दुःखों को टालने के लिए आवश्यक है। किन्तु मीमांसा दर्शन का प्रभाकर मत मोक्ष के लिए ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार करता है।²⁹¹ शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का स्वयं से तादात्म्य का सच्चा ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति कराता है। आत्मा वास्तव में ब्रह्म है किन्तु अविद्या के कारण वह अपनी गरिमा को भूला हुआ है। 'मैं ब्रह्म हूँ'— इस ज्ञान से गरिमा पुनः प्राप्त की जा सकती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार चार आर्यसत्त्यों का ज्ञान निर्वाण-प्राप्ति के लिए आवश्यक है।²⁹² उचित ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए, उसको अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान ही समझना चाहिए। न्याय-वैशेषिक और वेदान्त अन्तर्दृष्ट्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन विधियाँ बताते हैं।²⁹³ (1) शास्त्रों का अध्ययन और योग्य गुरु का निर्देशन (श्रवण), (2) जो कुछ पढ़ा गया है और पढ़ाया गया है उसका चिन्तन (मनन) और (3) आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ध्यान (निदिध्यासन)। सत्य को जानने के लिए न्याय-वैशेषिक व सांख्य-योग अष्टांग मार्ग को उल्लिखित करते हैं। पूर्वमीमांसा भी उसको

289. योगसूत्र और भाष्य और भोजवृत्ति, 2/25, 26

290. सांख्यकारिका, 64

291. प्रकरण पञ्जिका, 154-157

292. Indian Philosophy, 1.P.Vol.II. P. 418

293. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, 4/2/38; 47, 49

स्वीकार करता है।²⁹⁴ अद्वैत वेदान्त ब्रह्मज्ञान के लिए चार पूर्व आवश्यकताएँ प्रतिपादित करता है²⁹⁵ अर्थात् (1) शाश्वत और अशाश्वत में विवेक, (2) सांसारिक वस्तुओं में अनासक्ति, (3) शान्ति, संयम, आसक्ति, धैर्य, जागरूकता और श्रद्धा का होना और (4) मोक्ष की इच्छा।

उपर्युक्त विचारों की जैनदर्शन से तुलना करने पर हम पाते हैं कि केवल सम्यग्ज्ञान के द्वारा सांसारिक जीवन से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती किन्तु सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्चारित्र इसके साथ जोड़ा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्श्रद्धा के अतिरिक्त सम्यक्चारित्र भी मोक्ष के साधन के रूप में आवश्यक है। भावपाहुड का कथन है कि आत्मा को गुरु के द्वारा जानकर उस पर ध्यान किया जाना चाहिए।²⁹⁶ यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक, वेदान्त और पूर्वमीमांसा दर्शन जीवन में आचार-प्रक्रिया के लिए उपनिषद्, गीता और योग दर्शन पर आश्रित हैं। अब हम योग के अष्टांग मार्ग और बुद्ध के चार आर्यसत्त्यों पर विचार करेंगे।

योग का अष्टांग मार्ग

आत्मा का ईश्वर या निरपेक्ष सत्ता से किसी प्रकार का संयोग योग नहीं है किन्तु इसका अभिप्राय है चित्तवृत्तियों का निरोध या पुरुष और प्रकृति में भेद²⁹⁷ या पुरुष का मूल स्वभाव में स्थित होना।²⁹⁸ ये तीनों अभिप्राय एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। दूसरा अभिप्राय जो पतंजलि

294. प्रकरण पञ्जिका, 154-157

295. Vedanta Explained, Vol.I. P. 8

296. भावपाहुड, 64

297. योगसूत्र, 2/25, 26

298. योगसूत्र, 1/3, 4/ 34

ने योग शब्द को दिया है वह उपर्युक्त आदर्श की प्राप्ति की प्रक्रिया को सूचित करनेवाला है।²⁹⁹ जैनदर्शन में योग के लिए समानार्थक अभिव्यक्ति उच्चतम स्थिति के अर्थ में शुद्धोपयोग है। जिसमें शुभ-अशुभ भाव रुक जाते हैं और आत्मा अपने मूल स्वभाव में स्थित हो जाती है। उच्चतम आरोहण के लिए अनुशासन को चारित्र कहा जाता है जो अर्थ भी योग को दिया गया है। वह अनुशासन जो उच्चतम ऊँचाईयों का आरोहण करने के लिए आवश्यक है वह वैराग्य और अभ्यास है।³⁰⁰ वैराग्य निषेधात्मक है और अभ्यास सकारात्मक। पूर्ववर्ती का अभिप्राय है जगत की क्षणिक वस्तुओं से पूर्णतया अलग हो जाना और परवर्ती का अभिप्राय है आत्मा को यौगिक मार्ग पर लगाना। जैनाचार्यों द्वारा बतायी गयी बारह अनुप्रेक्षाएँ³⁰¹ वैराग्य उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। वैराग्य और अभ्यास यौगिक प्रक्रिया का संक्षेप है। पतंजलि योग की आठ प्रक्रिया बताते हैं जिनका पालन करने पर मोक्षरूपी फल प्राप्त हो जाता है।³⁰² वे हैं- (1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान और (8) समाधि।³⁰³

(1) यम- यम³⁰⁴ पाँच प्रकार का है- (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य और (5) अपरिग्रह। पतंजलि का कथन है कि ये यम महाव्रत बन सकते हैं³⁰⁵ जब इसमें अणुव्रतों की

299. योगसूत्र और वृत्ति, 2/1

300. योगसूत्र, 1/12

301. तत्त्वार्थसूत्र, 9/7

302. योगसूत्र, भाष्य और वृत्ति, 2/28

303. योगसूत्र, 2/28

304. योगसूत्र, 2/30

305. योगसूत्र, 2/31

सीमा पार कर ली जाय। इसके अतिरिक्त पतंजलि संन्यास जीवन के पक्ष में है क्योंकि गृहस्थ जीवन महाव्रतों के पालन में कई बाधाएँ उत्पन्न करता है। संन्यासी जीवन यौगिक प्रक्रिया का आवश्यक पक्ष है। व्यास भाष्य का कथन है कि अहिंसा यम व नियम का आधार है और अहिंसा को शुद्ध रूप में पालने के लिए यम व नियम साधे जाने चाहिए।³⁰⁶ ये महाव्रत जैनदर्शन के महाव्रत³⁰⁷ से मेल रखते हैं जिसमें अहिंसा आधारभूत होती है।³⁰⁸ अणुव्रत गृहस्थ के लिए होते हैं इस संबंध में पतंजलि के विचारों को समझना संभव नहीं है।

(2) नियम- नियम³⁰⁹ पाँच प्रकार का है- (1) शौच, (2) संतोष, (3) तप, (4) स्वाध्याय और (5) ईश्वरप्रणिधान। साधक जिसने मन को शुद्ध कर लिया है वह सकारात्मक गुणों को विकसित करता है। जैनाचार्य कई गुण प्रस्तावित करते हैं जिनको साधक द्वारा अपनाया जाता है अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।³¹⁰ स्वाध्याय आन्तरिक तपों में सम्मिलित किया गया है जब कि स्तुति और वंदना भक्ति में। पतंजलि³¹¹ का यह कथन कि जब साधक पापपूर्ण विचारों के प्रभाव में रहता है तो उसे उनके बुरे परिणामों को सोचकर दूर कर देना चाहिए, इसकी तुलना तत्त्वार्थसूत्र³¹² में उल्लिखित इस बात से की जा सकती है कि व्रतों का

306. योगसूत्र और भाष्य, 2/30

307. चारित्रपाहुड, 30, 31
Ācārāṅga-Sūtra, 2/15

308. सर्वार्थसिद्धि, 7/1

309. योगसूत्र, 2/32

310. तत्त्वार्थसूत्र, 9/6

311. योगसूत्र, 2/33, 34

312. तत्त्वार्थसूत्र, 7/9

(54) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

पालन करने के लिए उन दुःखों के बारे में सोचा जाना चाहिये जो उन ब्रतों का पालन न करने से उत्पन्न हो सकते हैं।

(3-4) आसन और प्राणायाम- स्थिर और आरामदायक स्थिति आसन है।³¹³ लयात्मकता और नियम से श्वास लेना प्राणायाम है।³¹⁴ जैनदर्शन में भी आसन का महत्त्व समझा गया है। मूलाचार का कथन है कि मुनि जो स्वाध्याय और ध्यान में लगा हुआ है निद्रा के अधीन नहीं होता और रात्रि गुफा में पद्मासन, वीरासन या उसी के समान स्थिति में व्यतीत करता है।³¹⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा और ज्ञानार्णव ध्यान के अभ्यास के लिए कई प्रकार के आसन प्रस्तावित करते हैं।³¹⁶ जैनदर्शन प्राणायाम के पक्ष में नहीं है। शुभचन्द्र मानते हैं कि जो मुनि मोक्ष की अभिलाषा करता है उसके लिए प्राणायाम क्रिया अवरोध का कार्य करती है क्योंकि उससे अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।³¹⁷ यद्यपि वह ध्यान के लिए इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं।³¹⁸

(5) प्रत्याहार- इन्द्रियों को उनके विषयों के आकर्षण से वापस मोड़ना प्रत्याहार कहलाता है।³¹⁹ इसकी तुलना जैनधर्म में पाँच इन्द्रियों के नियंत्रण से की जा सकती है।³²⁰ जो मुनि आध्यात्मिक मार्ग

-
313. योगसूत्र, 2/46
 314. योगसूत्र, 2/49, 50
 315. मूलाचार, 794, 795
 316. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 355
ज्ञानार्णव, 28/10
 317. ज्ञानार्णव, 29/6, 11
 318. ज्ञानार्णव, 29/1
 319. योगसूत्र, 2/54, 55
 320. मूलाचार, 16

पर आरोहण करता है ये उसकी नैतिक और बौद्धिक तैयारी की संरचना करते हैं। इन्द्रियों के संयम से साधक बाह्य और आन्तरिक व्यवधान से मुक्त हो जाते हैं।

(6-8) धारणा, ध्यान और समाधि- ये तीनों एक विषय पर एकाग्रता की प्रक्रिया के सोपान हैं।³²¹ योगी जो किसी एक का प्रयास करता है वह उसमें नहीं ठहर सकता, वह ध्यान या समाधि की ओर सरक जाता है। इसी कारण से इन तीनों प्रक्रियाओं का सामान्य नाम है- संयम।³²² धारणा किसी विषय पर मन को ठहराना है।³²³ ध्यान उसी विषय पर विचारों का अनवरत प्रवाह है।³²⁴ जब ध्यान में विषयी, विषय और ध्यान की प्रक्रिया के भेद समाप्त हो जाते हैं तो वह समाधि कहलाती है।³²⁵ ये समाधि दो प्रकार की होती है (1) संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात या सबीज और निर्बीज या सालंबन और निरालंबन। जैनधर्म ध्यान और समाधि में भेद नहीं करता है। किन्तु यह इनको शुक्लध्यान के अन्दर सम्मिलित कर लेता है। संप्रज्ञात समाधि की तुलना पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्लध्यान से की जा सकती है। असंप्रज्ञात समाधि की तुलना एकत्ववितर्क शुक्लध्यान की पूर्णता से की जा सकती है। जैनधर्म के अनुसार आत्मा यहाँ केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, यह सदेहमुक्ति है। विदेहमुक्ति सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान से प्राप्त की जा सकती है।

321. Yoga of the Saints, P. 87

322. योगसूत्र, 3/4

323. योगसूत्र, 3/1

324. योगसूत्र, 3/2

325. योगसूत्र और भाष्य, 3/3

इतनी समानताएँ होते हुए भी योगदर्शन से कुछ आधारभूत भेद है। योगदर्शन में आत्मजाग्रति का उल्लेख नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि इसने आत्मजाग्रति और नैतिक परिवर्तन को गड्ढमड्ढ कर दिया है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन में गुरु के महत्त्व को और आरोहण से पतन की संभावना को भी स्वीकार नहीं किया है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान को भी महत्त्व नहीं दिया गया है। ये सभी घटक रहस्यात्मक विकास के लिए बहुत आवश्यक हैं।

बुद्ध के चार आर्यसत्य

अब हम प्रारम्भिक बौद्ध धर्म पर विचार करेंगे। बुद्ध का दृष्टिकोण निम्नलिखित कथन से पहचाना जा सकता है। जो व्यक्ति आत्मा और जगत पर उस समय सैद्धान्तिक चिन्तन करता है जब कि वह दुःख में तड़प रहा है ऐसा व्यक्ति उस मूर्ख आदमी की तरह होता है जो जहरीला तीर पार्श्व भाग में घुस गया हो उस समय तीर को तुरन्त निकालने के बजाय उसकी उत्पत्ति, निर्माता और फेंकनेवाले का व्यर्थ रूप से चिन्तन करता है।³²⁶ अतः डॉ. राधाकृष्णन् उचित रूप से कहते हैं कि “बुद्ध के प्रारम्भिक शिक्षण में तीन विशेषताएँ रही हैं- (1) आचार संबंधी गंभीरता, (2) ईश्वरीय प्रवृत्ति का अभाव और (3) तत्त्वमीमांसक चिन्तन के प्रति विकर्षण।³²⁷ उसने चार आर्यसत्यों³²⁸ की

326. मज्झिम-निकाय-सुत्त, 63 (Warren, P. 120. vide An Introduction to Indian Philosophy)

327. Indian Philosophy, Vol.1, P. 358

328. अंगुत्तर-निकाय 3/61, 6

दीघ-निकाय, 22/4, 5

घोषणा अर्थात् दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निरोध और दुःख-निरोध का मार्ग- ये उसके आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण का संक्षेप है।” जैनधर्म के सात तत्त्वों में से पाँच तत्त्वों- आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की तुलना बुद्ध के चार आर्यसत्यों से की जा सकती है। बंध दुःख का द्योतक है, आस्रव दुःख का मूल है, संवर और निर्जरा दुःखनिरोध के उपाय है और मोक्ष दुःख का पूर्ण निरोध है।

पहले आर्यसत्य का संबंध सर्व लौकिक दुःखों के अनुभव से है। जन्म, जरा, मृत्यु, विलाप, दुःख का संसर्ग, अंतुप्त इच्छा और सुख से विच्छेद सभी दुःखपूर्ण होते हैं। जैनधर्म के अनुसार कर्मबंधन दुःख के तुल्य है।

दूसरा आर्यसत्य, दुःख का कारण है जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से समझाया जा सकता है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व कारण पर आश्रित होता है। (1) जरा मरण का कारण है- (2) जाति अर्थात् जन्म, जाति का कारण है- (3) भव अर्थात् जन्म की इच्छा, भव का कारण है- (4) उपादान अर्थात् सांसारिक विषयों से लिपटे रहने की अभिलाषा, उपादान का कारण है- (5) तृष्णा अर्थात् विषयभोग की वासना, तृष्णा का कारण है- (6) वेदना अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न सुखानुभूति, वेदना का कारण है- (7) स्पर्श अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क, स्पर्श का कारण है- (8) षडायतन अर्थात् ज्ञान की पाँच इन्द्रियाँ तथा मन, षडायतन का कारण है- (9) नामरूप अर्थात् गर्भस्थ भ्रूण का शरीर और मन, नामरूप का कारण है- (10) विज्ञान अर्थात् चैतन्य, विज्ञान का कारण है- (11) संस्कार अर्थात् पूर्वजन्म का संस्कार, संस्कार का कारण है- (12) अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान। संसार की प्रक्रिया का मूल कारण

अनादिकालीन अविद्या है। संसार की प्रक्रिया के माता-पिता अनादिकालीन अविद्या और तृष्णा है।³²⁹ “अविद्या के प्रभाव के अन्तर्गत त्रुटिपूर्ण रूप से अनित्य नित्य समझ लिया जाता है।”³³⁰ डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि ‘अहं’ और ‘चार आर्यसत्त्यों’ के सच्चे स्वरूप के बारे में अज्ञान अविद्या है।³³¹ जैनधर्म के अनुसार साम्प्रदायिक आस्रव का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है जो संसार की प्रक्रिया के मूल में है।

तीसरा आर्यसत्य, दुःखनिरोध या निर्वाण की प्राप्ति है। कारण के नष्ट होने से कार्य समाप्त हो जाता है। निर्वाण का अर्थ है बुझना या शीतल होना। पूर्ववर्ती का अर्थ है नष्ट होना और परवर्ती का अर्थ है कषायों की समाप्ति। इस तथ्य को मानना कि बुद्ध को दिव्य प्रकाश मिला और उसने मानव जाति के उत्थान के लिए उपदेश दिया इससे यह सिद्ध होता है कि निर्वाण का अर्थ बुझना नहीं है उसका अर्थ है केवल कषायों का नाश। निर्वाण के स्वरूप के बारे में अनिश्चितता का कारण यह है कि बुद्ध ने निर्वाण के प्रश्न का जवाब देना नैतिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नहीं माना।³³² “बुद्ध के मौन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि मुक्ति की अवस्था साधारण अनुभव से नहीं समझायी जा

329. लंकावतार सूत्र, पृष्ठ 138 (vide Tatia, Studies in Jaina Philosophy, P. 127)

330. Studies in Jaina Philosophy, P. 127

331. Indian Philosophy, Vol.1, P. 416

332. षोडश्याद सुत्त, 9/3

सकती।”³³³ “यह भाषा में अवर्णनीय है।”³³⁴ विनाश के विरोध में समझाने के लिए उसने निषेधात्मक शब्दों में समझाया कि निर्वाण जीवन के दुःखों का अन्त है और राग, द्वेष और मोह से बचाव है।³³⁵ यह शान्त, संतुलन और कषाय रहितता की अवस्था है। बौद्धगुरु नागसेन ने ग्रीक राजा (मिलिन्द) को निर्वाण का आनन्ददायक स्वरूप समझाया।³³⁶ जैनधर्म के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का अर्थ है अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति आदि की प्राप्ति। जैनधर्म मोक्ष के स्वरूप को बिना किसी दुविधा के समझाता है उसका अर्थ होता है- सांसारिक दुःख का अवरोध और अनन्त आनन्द की प्राप्ति। इस तरह से जैनधर्म और बौद्धधर्म के विचारों में कुछ अन्तर है। ब्राह्मण धर्म का योगी, जैनधर्म का तीर्थंकर और बौद्धधर्म का अर्हत्- सभी एक ही नाव में चल रहे हैं। इतनी समानता होते हुए भी बौद्धधर्म में आत्मा की अस्वीकृति का जैनधर्म से बड़ा भेद है जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

चौथे आर्यसत्य का सम्बन्ध दुःख को हटाने से है। बुद्ध के द्वारा अष्टांगिक मार्ग³³⁷ प्रस्तावित है। (1) सम्मदिट्ठि (सम्यक्-दृष्टि), (2) सम्मसंकप्प (सम्यक्-संकल्प), (3) सम्मवाच (सम्यक्-वाक्),

-
333. Radhakrishnan Article , the teaching of Buddha by speech and silence, Hibbert Journal April, 1934 (vide Dutta & Chatterjee, An Introduction to Indian Philosophy, P. 128)
334. History of Philosophy: Eastern and Western, P. 166
335. History of Philosophy: Eastern and Western, P. 167
336. Milinda-pañha, (vide Introduction to Indian Philosophy, P. 128)
337. दीघ-निकाय, 22/5

(60) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

(4) सम्मकम्मन्त (सम्यक्-कर्मान्त), (5) सम्म-आजिव (सम्यगाजीव), (6) सम्मवायाम (सम्यक्-व्यायाम), (7) सम्मसति (सम्यक्-स्मृति), (8) सम्मसमाधि (सम्यक्-समाधि)। (1) सम्मदिट्ठि (सम्यक्-दृष्टि)-सम्यक्-दृष्टि का अर्थ है चार आर्य सत्यों का ज्ञान।³³⁸ जैनधर्म के अनुसार सम्यक्चारित्र सम्यक्श्रद्धा से प्रारम्भ होता है किन्तु उसके विषयों में भेद है। (2) सम्मसंकप्प (सम्यक्-संकल्प)- सम्यक्-संकल्प के अन्तर्गत आसक्ति का त्याग या दूसरों के प्रति बुरे विचारों का त्याग और दूसरों को नुकसान पहुँचाने का त्याग है।³³⁹ (3) सम्मवाच (सम्यक्-वाक्)- सम्यक्-वाणी में झूठ, निन्दा, कटुवचन और व्यर्थ की बातचीत का त्याग सम्मिलित है।³⁴⁰ (4) सम्मकम्मन्त (सम्यक्-कर्मान्त)- इसके अन्तर्गत हिंसा, चोरी तथा इन्द्रिय-आसक्ति का त्याग है।³⁴¹ (5) सम्म-आजिव (सम्यगाजीव)- सम्यगाजीव का अर्थ है अच्छे साधनों से धनार्जन।³⁴² (6) सम्मवायाम (सम्यक्-व्यायाम)- सम्यक्-व्यायाम में चार प्रकार के प्रयत्न सम्मिलित है (i) बुराई न आने देना (ii) वर्तमान बुराई को नष्ट करना (iii) अच्छे विचारों को उत्पन्न करना (iv) अच्छे विचारों और गुणों के प्रति लगन रखना।³⁴³ (7) सम्मसति (सम्यक्-स्मृति)- सम्यक्-स्मृति के अन्तर्गत हैं- शरीर और मन का स्वभाव, हानिकारक मानसिक स्थितियाँ, कामुकता, संदेह, आलस्य, मन और शरीर की अशान्ति। (8) सम्मसमाधि

338. दीघ-निकाय, 22/4, 5

339. दीघ-निकाय, 22/4, 5

340. दीघ-निकाय, 22/4, 5

341. दीघ-निकाय, 22/4, 5

342. दीघ-निकाय, 22/4, 5

343. दीघ-निकाय, 22/4, 5

(सम्यक्-समाधि)- ध्यान की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं-

(i) प्रथम अवस्था में साधक कामुकता व बुरी वृत्तियों से अपने आपको दूर करता है तथा चार आर्यसत्त्यों का वितर्क तथा विचार करता है और वह अनासक्ति से उत्पन्न शांति तथा आनंद का अनुभव करता है।

(ii) द्वितीय अवस्था में वह सभी तर्क-वितर्कों का दमन कर देता है और एकाग्रता से उत्पन्न शांति और आनंद का अनुभव करता है।

(iii) तीसरी अवस्था में वह ध्यान से उत्पन्न शांति और आनंद को त्याग देता है और समता की आनन्द चेतना में स्थिर हो जाता है।

(iv) चौथी अवस्था में वह शुद्ध आत्मावस्था व समता में प्रवेश कर जाता है और इस अवस्था में सब दुःखों का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के लिए पञ्चशील अत्यावश्यक है। पञ्चशील के अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना सम्मिलित है। इन पञ्चशीलों की तुलना जैनधर्म के पाँच महाव्रतों से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त ध्यान की तीन अवस्थाओं की तुलना दो प्रकार के शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क से की जा सकती है। इसमें दूसरे प्रकार के शुक्लध्यान की परिपूर्णता से चौथी अवस्था की तुलना की जा सकती है। इसी को अर्हत् अवस्था या सदेहमुक्ति कहते हैं। विदेहमुक्ति अंतिम दो प्रकार के शुक्लध्यान का परिणाम है।



जैन और पाश्चात्य आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण

‘जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ नामक पूर्व अध्याय में प्रथम, हमने उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण का निरूपण किया है। द्वितीय, हमने गीता और उपनिषदों द्वारा निरूपित नैतिक आदर्श के स्वरूप का वर्णन किया है। तृतीय, आदर्श की प्राप्ति का अवरोध करनेवाली बाधाओं के स्वरूप का उल्लेख किया है, सुप्त और जाग्रत आत्माओं के भेद पर विचार किया है और ज्ञान के लिए गुरु के महत्त्व को समझाया है। चतुर्थ, हमने आध्यात्मिक प्रेरकों का वर्णन किया है तथा श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के महत्त्व की व्याख्या की है जिससे हम नैतिक और आध्यात्मिक विकास के बाधक तत्त्वों को जीत सकें। पंचम, चारित्र के निषेधात्मक पक्ष जिसमें कषायों के त्याग का वर्णन, इन्द्रिय और मन का संयम और सकारात्मक पक्ष जिसमें सद्गुणों के विकास सहित भक्ति और ध्यान का प्रतिपादन किया गया है। छठा, आदर्श मुनि की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। सातवाँ, मुख्य भारतीय दर्शनों के नैतिक आदर्श के स्वरूप को और आवागमनात्मक जीवन के अस्तित्व के कारणों को और रहस्यात्मक जीवन की प्राप्ति की प्रक्रिया को बताया गया है। अंत में योग के अष्टांग मार्ग और बुद्ध के चार आर्य सत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

आचारशास्त्रीय चिन्तन का पश्चिम में प्रारम्भ

ग्रीक दार्शनिकों ने सोफिस्टों के आविर्भाव से पहले अपने आपको ब्रह्माण्ड विज्ञान में संलग्न किया। सोफिस्टों के पूर्व दार्शनिक ने केवल तत्त्वमीमांसा संबंधी समस्याओं में अपने आपको लगाया। सोफिस्ट जो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में हुए, उन्होंने दार्शनिकों का ध्यान मानवीय चरित्र पर आकर्षित किया। इस तरह से उन्होंने दार्शनिकों को प्रकृति से मनुष्य की तरफ मोड़ा। इससे सोफिस्टों के चिन्तन में मानवीय आचार का उदय हुआ। फलस्वरूप सोफिस्ट आचारशास्त्रीय विज्ञान के जनक कहे जा सकते हैं। जैन चिन्तकों का आचारशास्त्रीय चिन्तन 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से माना जा सकता है। उनका अस्तित्व आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व था। यद्यपि जैन परम्परा अपने दर्शन के प्रारम्भ को बहुत प्राचीन काल से मानती है।

समस्या और चिन्तन दृष्टि

आचारशास्त्रीय चिन्तन का संबंध मानवीय चरित्र के उच्चतम उद्देश्य से है। यह चिन्तन मानवीय चरित्र का उचित-अनुचित और शुभ-अशुभ के रूप में मूल्यांकन करता है। चरित्र से यहाँ अभिप्राय है ऐच्छिक क्रियाएँ जिनकी पूर्व मान्यता है- व्यक्तियों का अस्तित्व। आचारशास्त्रीय चेतना के पश्चिम में उदय होने से विभिन्न चिन्तन-दृष्टियाँ नैतिक क्षेत्र में उत्पन्न हुईं। हम यहाँ केवल सोफिस्ट, सुक्रात, प्लेटो, अरस्तु, बैन्थम और मिल व कान्ट के संबंध में चर्चा करेंगे और उनकी जैन आचार से तुलना करेंगे।

(1) आचारशास्त्रीय आदर्श की समस्या- सोफिस्ट

यह कहा जाता है कि “सोफिस्ट दर्शनशास्त्र को स्वर्ग से मनुष्य के आवास तक लाये और उन्होंने उसका ध्यान बाह्य प्रकृति से मनुष्य

की ओर मोड़ा क्योंकि उन्होंने मनुष्य का महत्त्व सर्वोपरि माना।¹ सोफिस्टों के समय तक यूनानी दार्शनिक जगत के मूल को पाने में लगे हुए थे। सोफिस्टों ने इसकी तरफ निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाया और उन्होंने यह कहा कि “मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है” और “सत्य व्यक्ति के सापेक्ष है।”² इसका प्रभाव यह हुआ कि आचारशास्त्र आत्मगत और सापेक्ष हो गया। इस तरह से जितने व्यक्ति होंगे उतने ही आचारशास्त्रीय उद्देश्य होंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि आचारशास्त्र के क्षेत्र में अराजकता हो गयी। यद्यपि प्रोटोगोरस की प्रवृत्ति नैतिकता और ज्ञान के क्षेत्र में आत्मगत थी, फिर भी उसका देय यह था कि उसने मनुष्य के महत्त्व को सर्वोपरि माना है। इसके परिणामस्वरूप नैतिकता ने अहंवादी दृष्टिकोण अपना लिया। किन्तु हमको यह समझना चाहिये कि एकान्तिक अहंवादी दृष्टिकोण हानिकारक है।³ यह सत्य है कि सोफिस्टिक आन्दोलन ने मनुष्य के विचारों को जगाया और दर्शन, धर्म आदि को चुनौती दी और बुद्धि को इनके लिए महत्त्वपूर्ण माना।⁴

जिस युग में महावीर हुए वह सोफिस्टों से मिलता-जुलता था। प्रोटोगोरस के समान महावीर ने तत्त्वमीमांसात्मक चिन्तन की निन्दा नहीं की किन्तु आत्मगतसापेक्षवाद का खण्डन किया। इन्होंने ज्ञानात्मक वस्तुनिष्ठा का प्रतिपादन किया। इस तरह से द्रव्य के स्वभाव में अनेकता का उल्लेख किया और वे अनेकान्तवाद के पोषक हो गये। इसका प्रभाव आचारशास्त्रीय चिन्तन पर पड़ा और यह निष्कर्ष निकला

-
1. History of Philosophy, P.61
 2. History of Philosophy, P.57
 3. Short History of Ethic, P.34
 4. History of Philosophy, P.61, 62

कि शुभ आत्मगत नहीं है, विषयगत है यद्यपि यह व्यक्तियों द्वारा अनुभव किया जाता है। इस प्रकार जैनधर्म के अनुसार अहिंसा वस्तुनिष्ठ शुभ है किन्तु इसकी पूर्ण प्राप्ति रहस्यवादी अनुभव में ही होती है। यह एक प्रकार से नैतिक और आध्यात्मिक अहंवाद है जो प्रोटोगोरस के स्वार्थवादी अहंवाद से बिलकुल भिन्न है। इसके आधार पर आचारशास्त्रीय सिद्धान्त निर्मित हो सकते हैं। स्वार्थवादी अहंवाद के आधार से तो केवल नैतिक अस्त-व्यस्तता ही हाथ लगेगी।

सुकरात

सुकरात ने अपने युग की बौद्धिक और नैतिक अराजकता से संघर्ष किया और सोफिस्टों की आत्मगत और सापेक्ष नैतिकता का विरोध किया क्योंकि उन्होंने नैतिकता को व्यक्तिगत मौज बना दिया था। सुकरात ने प्रोटोगोरस की दृष्टि को स्वीकार किया। इसके अनुसार शुभ-मानवीय कल्याण है, किन्तु उससे इस बात में भेद था कि यह व्यक्तियों की परिवर्तनशील अभिरुचियों से स्वतन्त्र है। यह आत्मगत नहीं है, वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि इसको हम सामान्य धारणाओं के आधार पर समझ सकते हैं और ये धारणाएँ बुद्धि की उपज हैं जो मनुष्य में एक सार्वलौकिक तत्त्व हैं और इसका शुभ के साथ तादात्म्य है। इस तरह से सुकरात के अनुसार ज्ञान उच्चतम शुभ है। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह है कि कोई भी व्यक्ति ऐच्छिक रूप से बुरा नहीं होता।

जैनधर्म सुकरात की दृष्टि को इतना ही स्वीकार करेगा कि सम्यग्ज्ञान चारित्र के लिए आवश्यक है किन्तु वह इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि वह आवश्यक रूप से शुभ उत्पन्न करेगा। आत्मा में जो कषायें हैं उनको हम भूल नहीं सकते। ये कषायें मनुष्य के आत्मा के कल्याण को रोकती हैं। सुकरात की दृष्टि है कि ज्ञान शुभ होता है।

इसको प्रमाणित माना जा सकता है यदि व्यक्ति रहस्यात्मक ऊँचाईयों को प्राप्त कर लें किन्तु संभवतः सुकरात का यह अभिप्राय नहीं था। वास्तविक शुभ मनुष्य का शुभ है, यह जैन दृष्टिकोण से उचित है। उच्चतम शुभ आध्यात्मिक होता है और अनुचित क्रियाएँ आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करती हैं।

सुकरात के पंथ

सुकरात की नीतिशास्त्र की बहुमुखी दृष्टि के कारण एक-दूसरे से विराधी पंथ उत्पन्न हुए जो सिनिक और सिरैनैक के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनों पंथ मानवीय कल्याण को उच्चतम शुभ मानते हैं किन्तु उनमें कल्याण के विषय को लेकर भेद है। सिनिक का कहना है जीवन का आदर्श सारी इच्छाओं को समाप्त करना है और सब प्रकार के परिग्रह और आवश्यकताओं से स्वतंत्र होना है। वह पूर्ण संन्यास और कठोर तपस्या को प्रस्तावित करता है। सिरैनैक्स ने सर्वाधिक सुख की प्राप्ति पर जोर दिया यद्यपि उन्होंने शारीरिक सुखों की प्रशंसा की किन्तु ये इन्द्रिय भोग और पशुता से बचे क्योंकि उन्होंने कहा कि शुभ के चुनाव में बुद्धि का उपयोग आवश्यक है। बुद्धिमान व्यक्ति आत्मसंयम विकसित करता है तथा अधिक सुख और कम दुःख का चुनाव करता है।

जैन दृष्टिकोण से सिनिक का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक आत्मा-स्थिर न हो मात्र निषेध कहीं नहीं ले जाता है। अंतरंग और बाह्य अपरिग्रह बिना आध्यात्मिक स्वामित्व के प्राप्त नहीं किया जा सकता। सिनिक ने व्यक्तिगत शुभ का सामाजिक सुख से सामंजस्य नहीं किया। जैन दृष्टिकोण से गृहस्थ का जीवन और मुनि का जीवन व्यक्ति के उत्थान के लिए संतुलन रखता है। कोरा अहंवाद आत्मघाती है किन्तु आध्यात्मिक अहंवाद सामाजिक शुभ से संगत है।

जिसका उदाहरण आचार्य और अरिहंत का जीवन है। सिनिक्स सामाजिक अपरिग्रह की धारणा को विकसित नहीं कर सके। जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक जीवन का आधार खतरे में पड़ गया। जैनधर्म के अनुसार अणुव्रत तपस्वी जीवन और इन्द्रियभोगों में सामंजस्य स्थापित करता है। महाव्रतों का जीवन यद्यपि व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है किन्तु सामाजिक शुभ से असंगत नहीं है। सिरेनैक्स सुख की अहंवादी दिशा में बढ़े। यह दृष्टि जैनधर्म को स्वीकृत नहीं है। सुखवादी अहंवाद शारीरिक चेतना से परे नहीं जाता है और यह परोपकारी कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखता है।

प्लेटो और अरस्तु

प्लेटो के अनुसार 'प्रत्ययों' के लोकातीत जगत से सत्य का निर्माण होता है और बुद्धि आत्मा का सर्वोत्कृष्ट पक्ष है। संसारी वस्तुएँ 'प्रत्ययों' की छाया हैं। परिणामस्वरूप वस्तुओं की तरह शरीर और इन्द्रियाँ भी आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। व्यक्ति का वास्तविक जीवन आत्मा का शरीर से स्वतंत्र होना है और 'प्रत्यय' जगत का चिंतन करना है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य भूतकाल की स्मृतियों को चेतना के स्तर पर लाना है जब कि आत्मा ने 'प्रत्ययों' का ज्ञान किया था। जीवन की वास्तविक कला इन्द्रिय जगत से मरने की कला है जिससे निरपेक्ष शुभ और सौन्दर्य से एकत्व स्थापित हो सके।⁵ प्लेटो की यह तपस्वी प्रवृत्ति रहस्यवाद में समाप्त होती है।⁶

प्लेटो के नैतिक आदर्श का एक दूसरा पहलू भी है जिसके अनुसार जगत की वस्तुएँ 'प्रत्यय' जगत में सहभागी होती हैं। आत्मा का

5. Outlines History of Ethic, P.41

6. History of Philosophy, P.91

शरीर के कारागृह में रहना बौद्धिक भाग को अबौद्धिक भाग से मिश्रण करना है। इस दृष्टिकोण से नैतिक आदर्श आत्मा के विभिन्न भागों में सामंजस्य स्थापित करना है। आत्मा के अबौद्धिक भाग नष्ट नहीं होते हैं किन्तु बुद्धि की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा मनुष्य मित्रों को और देश को चोरी व धोखा नहीं देगा⁷ और उसके जीवन में आनन्द फलित होगा। इस तरह प्लेटो के इस दृष्टिकोण ने संकुचित तपस्यावाद को टाला और सामाजिक शुभ के लिए स्थान बनाया।

अरस्तु ने प्लेटो के लोकातीतवाद का खण्डन किया और वस्तुओं में 'प्रत्ययों' को व्याप्त बताया और बौद्धिक जीवन को नैतिक आदर्श के रूप में प्रतिपादित किया। उसके अनुसार बौद्धिक जीवन की अनुभूति सर्वोपरि है। मनुष्य के अबौद्धिक (वासनात्मक) भागों का बौद्धिक भागों से अरस्तु ने समन्वय करने का प्रयास किया। बौद्धिक नियंत्रण के कारण अबौद्धिक भागों का सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग किया जा सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार शुभोपयोगी बुद्धि (महाव्रती बुद्धि) की तुलना बौद्धिक जीवन से की जा सकती है किन्तु जैनदर्शन के अनुसार अबौद्धिक (वासनात्मक) भाग शुभोपयोगी जीवन में कोई महत्त्व नहीं रखता है। फिर भी जैनदर्शन के अनुसार वासनारहित शुभोपयोग का सामाजिक कल्याण से विरोध नहीं है, किन्तु यह शुभोपयोगी बुद्धि बहुत थोड़े लोगों के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतः अरस्तु की दृष्टि जिसमें बौद्धिक व अबौद्धिक सामंजस्य स्थापित किया गया है उसकी तुलना अणुव्रत की धारणा से की जा सकती है। अणुव्रत की धारणा में

7. History of Philosophy, P.90

बौद्धिक जीवन और अबौद्धिक (वासनात्मक) जीवन में सामंजस्य है। इनके अनुसार सामाजिक कल्याण तो संभव है किन्तु व्यक्तिगत शुभ पूर्णतया प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि जीवन में अबौद्धिक भाग को पूर्णतया अणुव्रतों के जीवन में समाप्त नहीं किया जा सकता।

बैन्थम और मिल

बैन्थम और मिल उपयोगितावाद के मुख्य प्रवर्तक हैं। उनके अनुसार उच्चतम आदर्श है- “अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।” ये दोनों चिन्तक अहंवाद से सार्वलौकिकवाद की ओर बढ़ने का दावा करते हैं किन्तु ये इसमें पूर्णतया सफल नहीं हो सके। बैन्थम ने अहंवादी विचारधारा के साथ इन्द्रियसुख की मात्रा के मापदण्ड को उपयोगितावाद का आधार बताया। उनका कहना है कि मनुष्य उस समय तक दूसरों की सेवा नहीं करेगा जब तक उसका स्वयं का कोई लाभ न हो। इस तरह से वह अहंवादी उपयोगितावाद का प्रवर्तक बन गया क्योंकि स्वार्थ उसके उपयोगितावाद का आधार बना।

जैनधर्म के अनुसार जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जहाँ मनुष्य अपनी हानि करके भी दूसरों की सेवा करते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्य को आचारशास्त्र की गरिमा के स्तर पर नहीं रखना चाहिए। जैन आचार उन क्रियाओं की प्रशंसा करता है जो व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर की जाती हैं। इसके अतिरिक्त जैन आचार का मानना है कि इन्द्रियसुखवाद को आत्म-नियंत्रण से रोका जाना चाहिए।

मिल का उपयोगितावाद सहानुभूतिपूर्ण उपयोगितावाद कहलाता है। उसके अनुसार मनुष्य परोपकारी आचरण मानवता के सुख के लिए अपनाता है और ऊँचे और नीचे सुखों में भेद करता है। इस भेद का मापदण्ड मिल के अनुसार ‘गरिमा का प्राकृतिक भाव’ है।

जैनधर्म भी सुखों में तो भेद करता है किन्तु उसका मापदण्ड अहिंसा होता है। उस अहिंसा के आधार पर मनुष्य परार्थ के बहुत से कार्य कर सकता है। ऐसा करना अहिंसा के सिद्धान्त के अनुरूप है।

जैन आचार अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के स्थान पर सभी लोगों के अधिकतम सुख को स्वीकार करता है। सच तो यह है कि अहिंसा का अनुभव उच्चतम आदर्श है और सुख उसके फलस्वरूप प्राप्त होता है। उपयोगितावादी मात्र भाव को उच्चतम आदर्श बताता है। जो अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है क्योंकि आदर्श ज्ञानात्मक और क्रियात्मक जीवन का पहलू है।

कान्ट

कान्ट के अनुसार उच्चतम शुभ ऐसे नैतिक नियम के सम्मान में कार्य करना है जो निरपेक्ष रूप से बिना परिस्थिति, परिणाम और भावात्मक रूप के आदेशित है। वह कहता है- “इस संसार में शुभ संकल्प के अतिरिक्त कोई भी वस्तु निरपेक्ष रूप से शुभ नहीं कही जा सकती है।” निरपेक्ष आदेश प्रतिपादित करता है कि “ऐसे नियम के अनुसार कार्य करो जो सार्वलौकिक बन सकें।” इस प्रकार ही बौद्धिक प्राणियों का समाज बन सकेगा।

जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकर ही ऐसा योगी है जो परिस्थितियों, परिणामों और भावनाओं से सीमित नहीं होता है। किन्तु जैनधर्म का कहना है कि ऐसे योगी के कार्य आनन्द उत्पन्न करते हैं। जैनधर्म के अनुसार कान्ट नैतिकता और परा-नैतिकता को गड्डमड्ड कर देता है और तर्क की निरपेक्ष पद्धति के कारण विशेष परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दे पाता है। कान्ट के अनुसार ब्रह्मचर्य और गरीबों को दान नैतिक नियम नहीं बनाये जा सकते हैं। ये नियम सार्वलौकिक होने पर स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे।

जैनधर्म के अनुसार इस जगत में कोई भी वस्तु जो शुभ कही जा सकती है वह सभी प्राणियों की अहिंसा है। ये सिद्धान्त विशेष परिस्थितियों में भी लागू किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त शुभ भावों को नैतिकता के जीवन से नहीं हटाया जा सकता है। कान्ट ने शुभ भावों को नैतिकता के क्षेत्र से बाहर निकाल दिया जो निष्कासन नैतिक जीवन के लिए हानिकारक है। सांसारिक जीवन में करुणा व सहानुभूति का अत्यन्त महत्त्व है इन्हें कान्ट बिलकुल ही महत्त्व नहीं देता है।

सद्गुण- सोफिस्ट, सुकरात, प्लेटो और अरस्तु

सोफिस्टों ने सद्गुण को स्वार्थ से जोड़ा। सुकरात ने कहा- 'ज्ञान ही सद्गुण' है। ज्ञान ही आवश्यक और पर्याप्त शर्त है सद्गुण की। ज्ञान के बिना सद्गुण असंभव है और केवल इसके होने से ही सद्गुणात्मक कर्म संभव हो जाते हैं।⁸ इस धारणा के कारण सुकरात ने कहा कि सद्गुण का शिक्षण हो सकता है और यह एक है। भिन्न-भिन्न सद्गुण जैसे धैर्य, परोपकार आदि एक ज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं।

प्लेटो के अनुसार चार प्रकार के मुख्य सद्गुण हैं। पहला, बुद्धि से उत्पन्न सद्गुण ज्ञान है; दूसरा, संवेग भावों से उत्पन्न सद्गुण साहस है; तीसरा, वासना से उत्पन्न सद्गुण संयम है और चौथा सद्गुण न्याय है। न्याय का सद्गुण बुद्धि, संवेग और वासना का संतुलित विकास है। अरस्तु ने दो प्रकार के सद्गुण कहे- (1) बौद्धिक और (2) नैतिक। तार्किक जीवन बौद्धिक सद्गुण है और जीवन में मध्यम मार्ग नैतिक सद्गुण है। उदाहरणार्थ- उदारता का अर्थ है- अतिव्यय और कृपणता का मध्य। साहस का अर्थ है- दुस्साहस और कायरता का मध्य। कुछ

8. History of Philosophy, P.70

(72) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

पापों में यह सिद्धान्त लागू नहीं किया जाता है जैसे- व्यभिचार, चोरी आदि क्योंकि ये अरस्तु के अनुसार अपने आप में ही अशुभ हैं।

जैन आचार के अनुसार अरस्तु का मध्य मंद कषाय है। सद्गुण का निर्णय बुद्धिमान व्यक्ति का निर्णय कहा जा सकता है। जैनधर्म के अनुसार अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय आदि के निर्णय भी सद्गुण की कोटि में कहे जा सकते हैं किन्तु जैनधर्म ने हमें अहिंसा का मापदण्ड सद्गुणों के निर्णय के लिये दिया है। प्लेटो के द्वारा वर्णित सद्गुण मुनि के जीवन में पूर्णतया किन्तु गृहस्थ के जीवन में आंशिक रूप से पालन किये जा सकते हैं। अणुव्रतों का जीवन पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए पर्याप्त है किन्तु व्यक्ति की पूर्णता के लिए महाव्रतों का जीवन अनिवार्य है।

सद्गुणों का वर्गीकरण

जैनधर्म के अनुसार मुख्य सद्गुण इस प्रकार हैं- (1) सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक रूपन्तरण), (2) स्वाध्याय, (3) अहिंसा, (4) सत्य, (5) अस्तेय, (6) ब्रह्मचर्य, (7) अपरिग्रह, (8) ध्यान और (9) भक्ति। जैनधर्म के अनुसार विस्तृत सद्गुण इस प्रकार हैं-

(1) व्यक्तिगत गुण-

(i) सरागसंयम (अशुभ प्रवृत्ति का त्याग),⁹ (ii) शौच,¹⁰ (iii) मार्दव,¹¹ (iv) आर्जव,¹² (v) सत्य,¹³ (vi) अस्तेय,¹⁴ (vii) ब्रह्मचर्य,¹⁵

9. सर्वार्थसिद्धि, 6/12

10. सर्वार्थसिद्धि, 9/6

11. सर्वार्थसिद्धि, 9/6

12. सर्वार्थसिद्धि, 9/6

13. सर्वार्थसिद्धि, 9/6

14. सर्वार्थसिद्धि, 7/1

15. सर्वार्थसिद्धि, 7/1

(viii) निःशंका,¹⁶ (ix) निःकांक्षा,¹⁷ (x) अमूढता,¹⁸ (xi) अनर्थदण्ड-
त्याग (असार कार्यों का त्याग)¹⁹ और (xii) आठ प्रकार के मदों को
टालना।²⁰

(2) सामाजिक गुण-

(i) भूत-अनुकम्पा (सब प्राणियों पर अनुकम्पा) और मैत्री,²¹
(ii) दान,²² (iii) निर्विचिकित्सा,²³ (iv) प्रमोद,²⁴ (v) करुणा,²⁵ (vi)
मध्यस्थता,²⁶ (vii) अपरिग्रह,²⁷ (viii) अहिंसा,²⁸ (ix) क्षमा²⁹ और
(x) प्रभावना।³⁰

-
16. चारित्रपाहुड, 7
 17. चारित्रपाहुड, 7
 18. चारित्रपाहुड, 7
 19. सर्वार्थसिद्धि, 7/21
 20. मूलाचार, 53
 21. सर्वार्थसिद्धि, 6/12, 7/11
 22. सर्वार्थसिद्धि, 6/12, 7/11
 23. चारित्रपाहुड, 7
 24. सर्वार्थसिद्धि, 7/11
 25. सर्वार्थसिद्धि, 7/11
 26. पञ्चास्तिकाय, 137
 27. सर्वार्थसिद्धि, 7/11
 28. सर्वार्थसिद्धि, 7/1
 29. सर्वार्थसिद्धि, 7/1
 30. सर्वार्थसिद्धि, 9/6

(74) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

(3) आध्यात्मिक गुण-

(i) शारीरिक तप, ³¹ (ii) परीषहजय, ³² (iii) स्वाध्याय, ³³ (iv) ध्यान, ³⁴ (v) देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति, ³⁵ (vi) सात प्रकार के भय का त्याग, ³⁶ (vii) वैराग्य, ³⁷ (viii) वैयावृत्य, ³⁸ (ix) सम्यग्दर्शन, ³⁹ (x) आकिञ्चन, ⁴⁰ (xi) प्रायश्चित्त, ⁴¹ (xii) वात्सल्य, ⁴² (xiii) निद्रा, ⁴³ आसन और भोजन की इच्छा पर विजय, ⁴⁴ (xiv) भोजन की शुद्धता, ⁴⁵ (xv) सल्लेखना ⁴⁶ और (xvi) स्थितीकरण। ⁴⁷

-
31. चारित्रपाहुड, 7
 32. सर्वार्थसिद्धि, 9/19
 33. सर्वार्थसिद्धि, 9/9
 34. सर्वार्थसिद्धि, 9/20
 35. सर्वार्थसिद्धि, 9/20
 36. सर्वार्थसिद्धि, 6/24
 37. मूलाचार, 9/20
 38. सर्वार्थसिद्धि, 7/12, 9/7
 39. सर्वार्थसिद्धि, 9/20
 40. सर्वार्थसिद्धि, 9/24
 41. सर्वार्थसिद्धि, 9/6
 42. सर्वार्थसिद्धि, 9/20
 43. चारित्रपाहुड, 7
 44. मोक्षपाहुड, 63
 45. मूलाचार, 421
 46. सर्वार्थसिद्धि, 7/22
 47. चारित्रपाहुड, 7



नवाँ अध्याय

जैन आचार और वर्तमान समस्याएँ

सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्तमान मनुष्य एक ऐसी दुनिया में रह रहा है जो प्राचीन या मध्यकालीन मनुष्य से अधिक जटिल है। राष्ट्रों में एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ गयी है और उससे गंभीर और व्यापक प्रभाव हमारे अर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक स्थितियों पर पड़ा है। विज्ञान ने देशों को एक-दूसरे का पड़ोसी बना दिया है। भिन्न-भिन्न जातियाँ, भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के निकट आये हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम राज्य और समाज का ऐसा दृष्टिकोण रखने का प्रयास करेंगे जो जैन आचारशास्त्र के विचारों से उत्पन्न होता है और हम प्रयास करेंगे उन समस्याओं के समाधान का जो सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय महत्त्व की हैं और जो वर्तमान मनुष्य के सम्मुख खड़ी हैं।

व्यक्ति और समाज

यह कहा जाता है कि जैन आचारशास्त्र केवल आत्मशुद्धि और आत्मविकास की ओर ध्यान देता है। प्रो. मैत्रा का कथन है कि “जैन आचार सामाजिक सद्गुणों अर्थात् परोपकारिता, सहयोग और सामाजिक सेवा को सम्मिलित नहीं करता है।”¹ इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन सद्गुण सामाजिक सेवा की अपेक्षा आत्म-उत्थान को महत्त्व देते

1. The Ethics of the Hindus, P.203

(76) Ethical Doctrines in Jainism जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

हैं किन्तु पिछले अध्याय में हमने सदगुणों का जो वर्गीकरण किया है उससे यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है और हम यह कह सकते हैं कि जैन आचार व्यक्ति और सामाजिक विकास दोनों दृष्टियाँ रखता है। यह व्यक्ति को सामाजिक प्राणी मानता है क्योंकि व्यक्ति की समाज पर बौद्धिक, नैतिक और भौतिक लाभ के लिए आश्रितता अखंडनीय है।

साधु भी अपनी सामाजिक निर्भरता की मान्यता का खंडन करने में असमर्थ है। यद्यपि साधु-अवस्था में निर्भरता की धारणा में काफी परिवर्तन होता है। वास्तविक साधुता कृतघ्नता का कार्य नहीं है किन्तु सर्वोच्च कृतज्ञता का कार्य है अर्थात् साधु-जीवन समाज को चाँदी के सिक्कों के बदले सोने के सिक्के लौटाता है। साधु अपने संयम के कारण पुण्य का संग्रह करता है जो किसी-न-किसी रूप में सामाजिक ऋण है। यह सामाजिक ऋण निरन्तर जन्मों के लिए उत्तरदायी है, जब तक पूर्ण ऋण नहीं चुक जाता है। उसकी समाज पर यह निर्भरता सम्मानजनक है।

तीर्थंकर या दिव्य मनुष्य जो सामाजिक निर्भरता से परे चले गये हैं, वे भी दुःखी मानवता को उपदेश और आध्यात्मिक मार्गदर्शन देकर सामाजिक उपकार करते हैं, यह उपकार भविष्य के जन्म को उत्पन्न नहीं करता है। इस प्रकार का सामाजिक उपकार अपूर्व होता है। इसके समान कोई दूसरा नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक निर्भरता शनैः-शनैः कम हो जाती है और पूर्ण स्वतन्त्रता में परिवर्तित हो जाती है। ऐसे स्तर पर ही हम कहने में समर्थ हैं कि व्यक्ति सामाजिक ऋण से पूर्णतया मुक्त है। इसके परिणामस्वरूप जैनधर्म का कहना है कि व्यक्ति सामाजिक ढाँचे

पर पूर्णतया निर्भर नहीं होता है। सामाजिक निर्भरता आध्यात्मिक व्यक्तित्व प्राप्त करने की स्वतन्त्रता को छीन नहीं सकती है। व्यक्ति सामाजिक मशीन में केवल एक दाँता नहीं है। जैनधर्म ऐसे व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करता जो सामाजिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा करता हो। इस तरह से वास्तविक दृष्टिकोण मानता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति समाज को गढ़ता है और समाज के द्वारा वह गढ़ा जाता है। इस तरह व्यक्ति समाज पर निर्भर होता है, किन्तु वह शनैः-शनैः समाज से स्वतंत्र हो जाता है, निर्भरता त्याग देता है।

राज्य की धारणा और उसके कार्य

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि अणुव्रतों और शीलव्रतों का पालन करने से राज्यरहित समाज का विकास हो सकता है। राजनैतिक शक्ति ऐसे व्यक्तियों के उदय होने से जिनका जीवन आत्म-नियंत्रित है अनावश्यक हो जायेगी। गृहस्थ के ये व्रत-अपरिग्रह, सत्य, अस्तेय, दिग्व्रत, देशव्रत व भोगोपभोगपरिमाणव्रत आर्थिक समस्याओं को हल करने में समर्थ होंगे और ब्रह्मचर्य, सामायिक और प्रोषधोपवास ये व्यक्ति को आत्म-संयम में शिक्षित करने के लिए सकारात्मक रूप से और अनर्थदण्डत्यागव्रत निषेधात्मक रूप से पर्याप्त होंगे। वैयावृत्य के कारण सामाजिक सेवा की भावना को पोषण मिलेगा। अंत में अहिंसा व्यापक सिद्धान्त के रूप में कार्य करेगी। जब समाज इन व्रतों का पालन करेगा तो राज्य जो समाज का बाह्य आवरण है उसको छोड़ना पड़ेगा। इस तरह राज्य समाप्त हो जायेगा। एक सजग सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व राज्य के बिना हो सकता है किन्तु यह आदर्श व्यवस्था है और इसका कभी भी क्रियान्वयन नहीं हो सकेगा। संभवतया ऐसा समय

कभी नहीं होगा जब सभी व्यक्ति आत्म-नियंत्रित हो जायें। अतः किसी न किसी रूप में राज्य का अस्तित्व रहेगा।

इस प्रकार मानवीय अपूर्णता के कारण राज्य का नियंत्रण व अधिकार आवश्यक रहेगा। निःसन्देह राज्य एक बुराई है किन्तु यह एक आवश्यक बुराई है। राज्य को चाहिए कि वह अपने कार्यों की व्यवस्था इस प्रकार करे कि जिससे वह पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विकास में सहयोगी बन सके। राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय क्रियाकलापों को अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप में हस्तक्षेप के बिना उचित प्रकार से कार्य कर सके इसके लिए राज्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से तादात्म्य स्थापित करे। राज्य की नीति ऐसी होनी चाहिए कि वह अहिंसा के सिद्धान्त में दृढ़ श्रद्धा का दिग्दर्शन कराये। इससे राज्य सम्यग्श्रद्धा प्राप्त करेगा जिसके फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होगा। अनेकान्त का अंगीकार करना सम्यग्ज्ञान है। राज्य की राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं के समाधान हेतु अहिंसा और अनेकान्त का पालन सम्यक्चारित्र होगा। किसी भी राज्य से घृणा व भय, मनुष्य के किसी भी वर्ग के प्रति घृणा और दूसरे राज्यों के प्रति मायाचार, अपने राज्य को बढ़ाने का लालच और दूसरे राज्यों के धन और स्वतंत्रता को छीनना, धन, शक्ति, विकास और परम्परा का मद- ये सभी राज्य से दूर हटा देने चाहिए क्योंकि ये राज्य के वास्तविक विकास को विकृत कर देते हैं। राज्य को उस अनुशासन का पालन करना चाहिए जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से प्रसूत होता है। उदाहरणार्थ- आठ सद्गुण सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होते हैं, एक सम्यग्ज्ञान से और पाँच सम्यक्चारित्र से निःसृत होते हैं।

राज्य के सदगुण

सम्यग्दर्शन से राज्य के लिए जो सदगुण उत्पन्न होते हैं वे इस प्रकार हैं- **प्रथम**, अहिंसा की प्रभावोत्पादकता में राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं को हल करने के लिए राज्य को जरा सा भी संदेह नहीं करना चाहिए। भय जो अहिंसा के विश्वास में बाधा उत्पन्न करता है उसे हटा देना चाहिए। अहिंसा को कायरता और मजबूरी का गुण नहीं समझना चाहिए। इसको उपयोगिता का हथियार मानना राज्य के निःशंकित सदगुण को विकृत करनेवाला माना जाना चाहिए। परिणामस्वरूप इसमें दृढ़ श्रद्धा राज्य की कठिन परिस्थितियों में भी अपरिवर्तनीय रहेगी। **दूसरा**, राज्य को किसी भी परिस्थिति में दूसरे देशों की उपलब्धियों को देखकर उन पर शासन करने की प्रवृत्ति नहीं दिखानी चाहिए। किसी राज्य की मदद करने में उस पर शासन करने की भावना नहीं होनी चाहिए। यह राज्य का निःकांक्षित सदगुण है। **तीसरा**, निर्विचिकित्सा सदगुण के अनुसार राज्य को गरीबों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। **चौथा**, अमूढदृष्टि सदगुण यह बताता है कि राज्य को भय, हीनता और लालच के वशीभूत होकर सैनिक अनुबंध में सम्मिलित नहीं होना चाहिए। **पाँचवाँ**, जब राज्य अपनी उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है तो उसके साथ उचित विभाजन की भी व्यवस्था करनी चाहिए। यह उसका उपबृंहण सदगुण है। **छठा**, जब दूसरे राज्य भय, लालच आदि कषायों से उचित और शांति के मार्ग से भ्रमित हो जाये तो उसको मानवीय उद्देश्यों की याद दिलाकर पुनःस्थापित करना स्थितीकरण सदगुण कहलाता है। **सातवाँ**, राज्य के सभी सदस्यों के प्रति बिना किसी जाति, रंग, मत और लिंग के पक्षपात के प्रेम रखना वात्सल्य सदगुण कहलाता है। **आठवाँ**, यह राज्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने सदस्यों को शिक्षित करे जिससे राज्य का विकास हो और अहिंसा के साधनों का

इस प्रकार उपयोग करे कि दूसरे राज्य भी इसकी नीति से प्रभावित हों। इससे सिद्धान्त और नीतियों का प्रचार दूसरे राज्यों में भी होगा। यह राज्य का प्रभावना सद्गुण है।

जो सद्गुण सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होता है वह है- अनेकान्त। जिसका उद्देश्य विभिन्न दृष्टिकोणों को सम्मिलित करना है जिससे उनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सके। जब राज्य अनेकान्त की भावना को ग्रहण कर लेता है तो यह सहनशील हो जाता है और उसके विभिन्न पक्षों पर ध्यान देता है। अनेकान्त का सिद्धान्त एकान्तवाद को व्यवहार में से ही हटा देता है। निरपेक्ष दृष्टि के कारण राज्य दूसरे राज्यों के प्रति जिनका जीवन भिन्न प्रकार का होता है उनके प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण अपना लेता है किन्तु अनेकान्त हमारी दृष्टि को व्यापक करता है और एक दृष्टि की निरपेक्षता को समाप्त कर देता है। परिणामस्वरूप यह अन्तर्राष्ट्रिय भावनाओं का पोषण करता है और अनेकान्तवादी दृष्टिकोण समस्या के समाधान हेतु अपनाता है। यह दूसरे राज्यों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाता है। यहाँ कहना अनुचित न होगा कि युद्ध एकान्तवाद का परिणाम होता है जब कि शान्ति बहुमुखी दृष्टिकोण से उत्पन्न होती है। परवर्ती दृष्टिकोण राज्य को अनिश्चयी नहीं बनाता है किन्तु यह संश्लेषात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है और विभिन्न दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करता है।

सम्यक्चारित्र राज्य को पाँच सद्गुणों का गौरव प्रदान करता है अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। प्रथम, अहिंसा की परिपूर्णता राज्य में गृहस्थ के समान आत्म-विरोधी होगी। जब तक राज्य है तब तक किसी-न-किसी रूप में हिंसा अनिवार्य रहेगी। जिस प्रकार गृहस्थ मुनि के समान हिंसा नहीं टाल सकता उसी प्रकार राज्य

भी पूर्णतया हिंसा को नहीं टाल सकता क्योंकि राज्य-विरुद्ध और समाज-विरुद्ध प्रवृत्तियाँ अस्तित्व में रह सकती हैं। उनके व्यवधान को रोकने के लिए बाहरी नियंत्रण आवश्यक है। हिंसा इच्छापूर्वक नहीं की जायेगी किन्तु यह एक आत्म-सुरक्षा का हथियार रहेगी। बल का प्रयोग करते हुए भी राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अहिंसा का वातावरण बनाये। यहाँ हम बताना चाहते हैं कि यह सद्गुण केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं होना चाहिए। किन्तु अन्य प्राणियों को भी इसका लाभ मिलना चाहिए क्योंकि मनुष्येतर प्राणियों की हिंसा अहिंसा की भावना के विरुद्ध है और अमानवीय प्रतीत होती है। नशीली वस्तुओं के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए और इनके प्रयोग के विरुद्ध सामाजिक चेतना जगायी जानी चाहिए। अहिंसा का गंभीर महत्त्व युद्ध के टालने में है क्योंकि युद्ध ने मनुष्य को सभ्यता के उदयकाल से ही कष्ट दिया है। युद्ध को आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए जैसा कि नित्से, मुसोलिनी और कई दूसरों ने सोचा है। दो विश्वयुद्धों ने भयंकर बर्बादी की है। अन्तर्राष्ट्रिय संस्था की स्थापना और निरस्त्रीकरण की प्रवृत्ति यह बताती है कि युद्ध और हिंसा से अन्तर्राष्ट्रिय विवाद हल नहीं किये जा सकते। राज्यों का आपसी तनाव-निवारण, विश्वशान्ति और मानवीय कल्याण का उन्नयन अहिंसा के वातावरण के निर्माण से ही हो सकता है। इस तरह से अहिंसा का सिद्धान्त यह बताता है कि बल के स्थान पर सहनशक्ति और आपसी सहयोग का प्रयोग किया जाना चाहिए।

द्वितीय, राज्य में आपसी संबंध सत्य के आधार पर होना चाहिए। अतिशयोक्ति, छिद्रान्वेषण और अशोभनीय भाषा के प्रयोग को राज्य के व्यवहार में से निष्कासित किया जाना चाहिए।

तृतीय, राज्य के द्वारा दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना अचौर्य है। उपनिवेशवाद चोरी है और दूसरे राज्यों पर प्रभुत्व जमाना डकैती है। अतः इसकी निन्दा की जानी चाहिए।

चतुर्थ, ब्रह्मचर्य यह बतलाता है कि राज्य को अपनी शक्ति सैन्य व्यवस्था में, अणु शस्त्र के निर्माण में बर्बाद नहीं करना चाहिए। राज्य का धन और शक्ति मानव-कल्याण में लगायी जानी चाहिए।

पाँचवाँ, अपरिग्रह के सदगुण से अभिप्राय है कि राज्य को दूसरे राज्यों के धन के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। अतिरिक्त उत्पादन दूसरे राज्यों के लिए काम में लिये जाने चाहिए। राज्य को साम्राज्यवादी प्रवृत्ति नहीं अपनाना चाहिए। अपरिग्रह का सदगुण पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य स्थित माना जा सकता है।

सदगुणों का उपर्युक्त वर्णन जिसका संबंध राज्य से है उसके आधार पर हमें यह स्वीकार करना होगा कि राज्य मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। व्यक्ति अपना भाग राज्य को प्रदान करता है जिससे व्यक्ति का भौतिक और आध्यात्मिक विकास हो सके। जिस प्रकार भौतिक पिछड़ापन व्यक्ति के विकास को रोकता है उसी प्रकार राज्य भी भौतिक साधनों के बिना अशक्त हो जाता है। किन्तु भौतिकवाद रूपी घोड़ों की लगाम अध्यात्मवाद के हाथों में होनी चाहिए। उपर्युक्त सदगुण राज्य में सन्तुलित दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं। अहिंसा और अपरिग्रह के सदगुण सार्वलौकिक शांति स्थापित करने में समर्थ है। अहिंसा राज्य में उस समय तक विकसित नहीं की जा सकती जब तक लोभ कषाय का उन्मूलन न कर दिया जाए। हिंसा का मूल कारण भौतिक वस्तुएँ हैं। अपरिग्रह के सदगुण के महत्त्व

को अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर समझने से अहिंसा का दृष्टिकोण विकसित हो सकेगा।

व्यक्ति और समाज की जैन धारणा, राज्यविहीन समाज की संभावना और राज्य के वे सदगुण जिनसे राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं का समाधान संभव है- इनका विचार करने के पश्चात् अब हम जातिवाद के प्रति जैनधर्म के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। जैनधर्म जातिवाद को घृणा की दृष्टि से देखता है। एक जाति की दूसरी जाति से उच्चता जैन आचार से संगत नहीं है। जातिवाद एक बुराई है और यह घृणा और अहंकार की कषाय पर आश्रित है। ये दोनों ही तीव्र कषायें हैं, अतः वे पाप हैं। जैन आगमों में ऐसे संदर्भ प्राप्त होते हैं जिनके अनुसार गुण जाति का निर्णायक होता है न कि जन्म। आत्मानुभव से जाति का कोई भी संबंध नहीं है। उत्तराध्ययन का कथन है कि हरिकेशी जो अछूत था उसने तर्पों के पालन से मुनि-जीवन प्राप्त किया। शुभ चारित्र ही सम्मान का विषय है, न कि जाति। जातिवाद काल्पनिक है और असत्य में स्थापित है। आचार्य अमितगति का कथन है कि जातिवाद किसी भी प्रकार की गुणयुक्त प्राप्ति कराने में असमर्थ है। जीवन में योग्यता सत्य, तप, ध्यान और स्वाध्याय से उत्पन्न होती है। चारित्र में भेद से ही जाति में भेद होता है। जाति केवल एक ही है, वह है- मनुष्यता। जीवन में योग्यता जाति का आधार होती है और जाति का अहंकार सम्यग्जीवन को नष्ट कर देता है। यदि आधुनिक प्रजातंत्र को सफल होना है तो जातिवाद समाप्त होना चाहिए। जातिवाद और प्रजातंत्र एक-दूसरे के विरोधी हैं।



दसवाँ अध्याय

सारांश

परम्परा के अनुसार जैनधर्म अपने उद्गम के लिए ऋषभदेव का ऋणी है जो चौबीस तीर्थकरों में प्रथम हैं। यजुर्वेद और भागवतपुराण इस दृष्टि का समर्थन करते हैं कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे। जैनदर्शन और जैन आचार का चिन्तन वर्तमान स्थिति में हमारे ज्ञान को ऐतिहासिक रूप से तीर्थकर पार्श्वनाथ तक ले जाता है। पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म कहा गया है जब कि महावीर द्वारा जो स्पष्टीकरण किया गया वह था पार्श्वनाथ के चार व्रतों में पाँचवें व्रत ब्रह्मचर्य की स्पष्ट रूप से वृद्धि। चौबीसवें तीर्थकर महावीर ने स्पष्टीकरण के द्वारा अपने पूर्ववर्ती अर्थात् तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ के धर्ममत को उन्नत किया और नया धर्ममत स्थापित नहीं किया। प्रो. घाटगे का कथन है कि महावीर एक विद्यमान धर्म के सुधारक के रूप में रखे जा सकते हैं— “ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़ना, नग्नता का महत्त्व और दार्शनिक सिद्धान्तों की अधिक योजनाबद्ध व्यवस्था— इनके लिए महावीर के सुधारवादी उत्साह को श्रेय दिया जा सकता है।” महावीर के निर्वाण के पश्चात् जैनधर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। समय बीतने के साथ ही दोनों सम्प्रदायों में नये सम्प्रदायों का उदय हो गया। जिनमें से यापनीयसंघ के मुनि दो प्रमुख सम्प्रदायों में सामञ्जस्य स्थापित करानेवाले कहे जा सकते हैं। डा. उपाध्ये का कथन है कि जैन आचारशास्त्र अपने उद्भव में मागधीय है।

जैन आचार जैन तत्त्वमीमांसा पर आश्रित है। द्रव्य के स्वभाव को केवल नित्य मानना या केवल अनित्य मानना जैनधर्म के अनुसार आचारशास्त्रीय चिन्तन का विनाशक है और यह दृष्टि प्रागनुभविक और निरपेक्षवादी प्रवृत्ति पर आश्रित है। परिणामस्वरूप जैन चिन्तकों की विचारधारा के अनुसार नित्यता जितनी तात्त्विक है उतनी ही अनित्यता भी है यह चिन्तन 'अनुभव' (Experience) पर आश्रित है। द्रव्य वह है- जो सत् (अस्तित्व) है या एकसमय में वह उत्पत्ति (उत्पाद), विनाश (व्यय) तथा स्थायित्व (ध्रौव्य) से युक्त है या गुण और 'पर्याय' का आधार है। 'पर्याय' विशेषतया जैनदर्शन की ही परिकल्पना है। सत् इन सभी लक्षणों को अपने में सम्मिलित कर लेता है। द्रव्य और गुण, द्रव्य और पर्याय तथा द्रव्य और सत् में संबंध अभेद में भेद का है।

अनेकान्तात्मक द्रव्य को जानने का साधन है- प्रमाण और नय। पूर्ववर्ती अर्थात् प्रमाण द्रव्य को समग्र रूप से जानता है जब कि परवर्ती अर्थात् नय समग्रता में से केवल एक पक्ष को जानता है और दूसरे पक्ष को दृष्टि में रखता है। अनेकान्तात्मक द्रव्य का बिना किसी विकार के संप्रेषण किया जा सके इसके लिए प्रत्येक कथन के पहिले 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्याद्वाद' का यह सिद्धान्त जैनदर्शन की परिकल्पना है। प्रत्येक कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैन दृष्टिकोण से 'स्यात्' शब्द को संदेहवादी नहीं गिना जाना चाहिए, दूसरे गुणों के लिए जो कथन नहीं कहे गये हैं उनके लिए वह प्रकाश-स्तम्भ है।

जैनदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण अस्तित्व शाश्वत, स्वयंभू और सह-अस्तित्ववाले जीव और अजीव की दो स्वतंत्र श्रेणियों में

विभाजित है। परवर्ती पुद्गल (भौतिक पदार्थ), धर्म (गति का सिद्धान्त), अधर्म (स्थिति का सिद्धान्त), आकाश (स्थान) और काल (समय) में विभाजित है। अतः यथार्थता द्वैतवादी है और अनेकत्ववादी भी। अनेकता का यदि वस्तुगत और संश्लेषात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाये तो तात्त्विक अनेकता सत् की एकता के साथ भी बंधी हुई है। छह द्रव्य कभी भी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। पुद्गल अणु से स्कन्ध अवस्था तक चार इन्द्रियगुण- स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित होते हैं। यद्यपि अणु ध्वनिरहित होता है, तो भी परमाणुओं के संयोग से ध्वनि पैदा हो सकती है जब वे परमाणुओं के दूसरे संयोग के संपर्क में आते हैं। इस प्रकार ध्वनि भौतिक होती है।

आकाश का विशेष गुण सभी द्रव्यों को आवास प्रदान करना है। धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति में क्रमशः उदासीन निमित्त होते हैं। ये दोनों सिद्धान्त लोकाकाश और अलोकाकाश की सीमा के विभाजन के लिए उत्तरदायी हैं। काल द्रव्यों में परिवर्तन की अवस्था को प्रकट करता है।

आत्मा (जीव) जो चेतना युक्त है वह सब द्रव्यों में उच्चतम महत्त्व रखता है और सब तत्त्वों में उच्चतम मूल्यवाला है। संसारी आत्माएँ अनादिकाल से कर्मों से बंधी हुई है। वे स्वयं के द्वारा किये हुए शुभ और अशुभ क्रियाओं के भोक्ता होते हैं तथा ज्ञाता और दृष्टा भी माने गये हैं। वे शरीर परिमाण की सीमा तक फैलते हैं, संकोच-विस्तार के गुणवाले होते हैं, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के त्रयी स्वभाव से संबंधित होते हैं और उनमें चेतना का विशिष्ट गुण होता है। मुक्त आत्मा सभी कर्मों से स्वतंत्र होता है और अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि को प्रकट करता है।

विभिन्न प्रकार के नैतिक आदर्श उल्लिखित हैं। वे एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। आत्मा की मुक्ति, परमात्म अवस्था की प्राप्ति, स्वसमय या स्वयंभू अवस्था की उपलब्धि, आत्मा के स्वरूप सत्ता की अनुभूति और ज्ञान चेतना की प्राप्ति, अहिंसा का अनुभव, शुद्ध भावों की प्राप्ति जो शुभ और अशुभ भावों से परे होते हैं, शुद्ध भावों का कर्ता और भोक्ता होना, लोकातीत मरण की प्राप्ति— ये सब उच्चतम आदर्श माने गये हैं। उच्चतम आदर्श ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक आत्मा में निहित अन्तःशक्तियों का पूरा प्रकटीकरण है।

आत्मा की कलुषितता अनादिकाल से चली आ रही है। मिथ्यात्व से दृष्टि, ज्ञान और चारित्र दूषित हो जाते हैं। इससे दिव्य आदर्श की अनुभूति अवरूढ़ हो जाती है। परिणामस्वरूप सम्यग्दर्शन (आध्यात्मिक जाग्रति) प्राप्त किया जाना चाहिए जो ज्ञान और चारित्र को सम्यक् बना देता है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रेरक हो जाता है। आत्मा में दृढ़तापूर्वक श्रद्धानिश्चय सम्यग्दर्शन है जब कि सात तत्त्वों में श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। चारित्र बिना सम्यग्दर्शन के नैतिकता से परे नहीं जाता है, सम्यग्दर्शन या आध्यात्मिक रूपान्तरण सिद्ध करता है कि जैन आचार आध्यात्मिकता का आधार लिये हुए है।

सम्यग्ज्ञान का प्रकाश साधक को अपने अवगुणों को देखने के योग्य बनाता है। सम्यक्चारित्र का पालन उन बातों का उन्मूलन कर देता है जो अनवरत आनन्द और अनन्त ज्ञान को रोकते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त सम्यक्चारित्र भी मोक्ष के लिए आवश्यक है। वह जो आंशिक रूप से चारित्र का पालन करता है वह पापों का पूर्ण त्याग करने में समर्थ नहीं होता है वह गृहस्थ कहलाता है। गृहस्थ के आंशिक चारित्र में बने रहने के लिए पाँच अणुव्रतों का पालन और

मद्य, माँस और मधु का त्याग सम्मिलित है। त्यागी जीवन को उन्नत करने के लिए शीलव्रतों का शिक्षण आवश्यक है। मुनि जीवन के लिए सुव्यवस्थित ग्यारह प्रतिमाएँ बतायी गई हैं। गृहस्थ के आचार का वर्णन करने के लिए व्यापक पद्धति के रूप में पक्ष, चर्या और साधन का आधार अपनाया गया। यदि व्यक्ति वर्तमान जीवन के समाप्त होने के कारणों के सम्मुख होता है तो उसको सल्लेखना की प्रक्रिया का सहारा लेना चाहिए, यह प्रक्रिया मृत्यु का आध्यात्मिक स्वागत है। यह मृत्यु के सामने झुकना नहीं है बल्कि निर्भयतापूर्वक और यथेष्ट प्रकार की मृत्यु की चुनौती को स्वीकार करना है। अतः इसका आत्मघात से भेद किया जाना चाहिए।

पूर्ण त्यागमय जीवन (मुनि जीवन) अशुभ भावों के उन्मूलन को संभव बनाता है जो गृहस्थ के आंशिक त्याग की स्थिति में संभव नहीं होता है। मुनिधर्म क्रिया-जगत से पीछे हटना नहीं बल्कि हिंसा-जगत से पीछे हटना है। उच्च और उदात्त मार्ग पर आरोहण आध्यात्मिक प्रेरकों से प्राप्त प्रेरणा के कारण होता है। परम्परा के अनुसार ये प्रेरक बारह अनुप्रेक्षाएँ कही जाती हैं। यदि वे (प्रेरक) गृहस्थ को पूर्ण त्यागमय जीवन में झाँकने की शक्ति प्रदान करते हैं, तो वे साधुओं के लिए पथप्रदर्शक होते हैं। उपर्युक्त वर्णित प्रेरकों के कारण साधक सांसारिक क्रियाओं व उपलब्धियों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण रखता है किन्तु आत्मा के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। अंतरंग और बाह्य स्वरूप को उत्कृष्ट गुरु के संरक्षण में ग्रहण करने के पश्चात् प्रस्तावित अनुशासन की प्रक्रिया को प्राप्त करके साधक श्रमण बन जाने का सम्मान प्राप्त कर लेता है।

मुनि पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य), पाँच प्रकार की समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग), तीन गुप्ति (मन, वचन और काय), छह प्रकार के आवश्यकों (सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग) का पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त वह पाँच इन्द्रियों का नियंत्रण, केशलोच, दिन में केवल एक बार भोजन करता है, स्नान नहीं करता और दंत धावन नहीं करता है। नग्नता, जमीन पर सोना, हथेली में खड़े होकर दिन में एक बार आहार ग्रहण करना- दिगम्बर साधुओं की विशिष्ट चर्या है।

इस प्रकार मुनि अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा कर्मों को रोकने (संवर) और विनाश (निर्जरा) में समर्पित करता है। परिणामस्वरूप वह बाईस प्रकार के परीषहों को जीतना और बारह प्रकार के तपों को करना अपनी अनिवार्यताओं के क्षेत्र में स्वीकार करता है। परीषह मुनि की इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं, जब कि तप साधक की इच्छा के अनुरूप आध्यात्मिक विकास के लिए किये जाते हैं। इन तपों को करने का उद्देश्य शारीरिक त्याग ही नहीं है किन्तु इन्द्रियों और शरीर के प्रति आसक्ति को नष्ट करना है। छह प्रकार के अंतरंग तपों में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है। सभी अनुशासनात्मक क्रियाएँ ध्यान की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं। वह सम्यक्चारित्र का अनिवार्य संघटक है और यह दिव्य अन्तःशक्तियों के प्रकटीकरण के लिए सीधे रूप से संबंधित है।

मोटे तौर पर ध्यान दो प्रकार का होता है अर्थात् (1) प्रशस्त और (2) अप्रशस्त। पूर्ववर्ती के अन्तर्गत दो प्रकार का ध्यान है अर्थात् (i) धर्मध्यान और (ii) शुक्लध्यान, और परवर्ती में भी दो प्रकार के

ध्यान हैं अर्थात् (i) आर्तध्यान और (ii) रौद्रध्यान। तप के रूप में ध्यान का संबंध प्रशस्त प्रकार के ध्यान से है क्योंकि केवल वे ही शुभ और लोकातीत जीवन से संबंधित हैं। इसके विपरीत अप्रशस्त ध्यान सांसारिक दुःखों की ओर ले जाता है।

वह मुनि जिसके असाध्य रोग है, असहनीय वृद्धावस्था है, स्थानीय अकाल है, सुनने और देखने में कमजोरी है, पैरों में अशक्तता आदि है, सल्लेखना (मरण का आध्यात्मिक स्वागत) ग्रहण करता है। सम्पूर्ण आचारशास्त्र जो गृहस्थ और मुनि के लिए निर्धारित है वह व्यवहार में अहिंसा के रूपान्तरण के लिए प्रतिपादित है, जिसकी पूर्णता रहस्यात्मक अनुभूति में उद्घाटित होती है। इस तरह से आचारशास्त्र के मूलस्रोत का संबंध यदि तत्त्वमीमांसा से घनिष्ठ है तो उसका रहस्यवाद से भी संबंध कम नहीं है। जैनधर्म में 'रहस्यवाद' का समानार्थक शब्द 'शुद्धोपयोग' है। बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है। अन्तरात्मा से लोकातीत आत्मा तक की यात्रा नैतिक और बौद्धिक साधनों के माध्यम से की जाती है, जो भी अन्तर्दिव्यता की उत्पत्ति में बाधक होते हैं वे मिटा दिये जाते हैं। पूर्णता प्राप्त होने से पहले एक ज्योतिपूर्ण अवस्था से गिरना संभव हो सकता है।

तात्त्विक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि 'रहस्यवाद' आत्मा की स्वाभाविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अनुभूति है। यह आत्मा की स्वरूपसत्ता की अनुभूति है। रहस्यवाद और तत्त्वमीमांसा द्रव्य की समस्या के प्रति भेद दर्शाते हैं। यदि रहस्यवादी की पद्धति अनुभव और अन्तर्ज्ञान है तो तत्त्वमीमांसक की पद्धति केवल विचारणा है।

आध्यात्मिक विकास के चौदह सोपान जो पारिभाषिक रूप से गुणस्थान जाने जाते हैं उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं अर्थात् (1) जाग्रति से पूर्व आत्मा का अंधकारकाल, (2) आत्मजाग्रति, (3) शुद्धीकरण, (4) ज्योतिपूर्ण अवस्था, (5) ज्योति के पश्चात् अंधकार काल और (6) लोकातीत जीवन। इन अवस्थाओं से परे एक और अवस्था है जो सिद्ध अवस्था जानी जाती है।

(1) आत्मा के इतिहास में घोर अंधकार का काल वह है जब आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित होता है। प्रथम अवस्था अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान में आत्मा की दशा पूर्ण रूप से चन्द्रग्रहण के समान होती है अथवा बादलों से घिरे हुए आकाश की तरह होती है। यह आध्यात्मिक निद्रा की स्थिति है जिसकी विशेषता है कि आत्मा स्वयं ही इस निद्रा से अवगत नहीं है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति गहन रूप से बौद्धिक और दृढ़ रूप से नैतिक हो सकता है किन्तु उसमें रहस्यवाद की योग्यता का अभाव रहेगा। इस प्रकार आध्यात्मिक रूपान्तरण का नैतिक रूपान्तरण और बौद्धिक उपलब्धियों से भेद किया जाना चाहिए।

(2) जिस आत्मा में आध्यात्मिक रूपान्तरण की प्राप्ति हुई है उसने वर्तमान जन्म में या पूर्व जन्म में उनसे उपदेश सुना होगा जिन्होंने अपने जीवन में दिव्यत्व अनुभव कर लिया है या जो दिव्य अनुभव के मार्ग पर हैं। अरिहंत सर्वोच्च गुरु हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु दिव्य अनुभूति के मार्ग पर हैं। केवल आचार्य को ही व्यक्तियों को रहस्यात्मक जीवन में दीक्षा देने का अधिकार है इसलिए वे गुरु कहलाते हैं। अब आत्मा चौथे गुणस्थान में है। दूसरी और तीसरी अवस्थाएँ आध्यात्मिक रूपान्तरण से गिरने की अवस्थाएँ हैं।

(3) अब आत्मा जाग्रत-आत्मा में रूपान्तरित हो चुकी है। साधक अब स्वयं को स्वाध्याय में लगाता है और आत्म-संयम का

पालन करता है। संक्षेप में, वह शुद्धीकरण के मार्ग का अनुसरण करता है जो केवल निषेधात्मक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सकारात्मक प्राप्ति को भी समाविष्ट करती है। स्वाध्याय और भक्ति रहस्यवादी के नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन का अनिवार्य भाग हैं। इस तरह आत्मा अपने विकास के अनुसार पाँचवें या छठे या सातवें गुणस्थान के प्रथम भाग में पहुँच जाता है।

(4) इसी समय आत्मा ने अपने में अपने को निमज्जन करने की शक्ति प्राप्त कर ली है, वह गहन रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है। सातवें गुणस्थान का दूसरा भाग और शेष बारहवें गुणस्थान तक ध्यान की या ज्योतिपूर्ण और हर्षोल्लास पूर्ण अवस्थाएँ हैं। श्रेणियाँ गहरे ध्यान के माध्यम से चढ़ी जाती हैं।

(5) जब आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो वह प्रथम या चतुर्थ गुणस्थान में गिरता है। इसका कारण है- कषायों के दमन का उभरना और इस प्रकार आत्मा अंधकार काल का अनुभव करता है। सभी रहस्यवादी इस अंधकार काल का अनुभव नहीं करते हैं। जो रहस्यवादी क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं वे अंधकार काल से बच जाते हैं और तुरन्त लोकातीत जीवन का अनुभव करने में समर्थ हो जाते हैं किन्तु जो उपशम श्रेणी चढ़ते हैं वे इस जीवन से वंचित हो जाते हैं। निःसन्देह परवर्ती रहस्यवादी भी उतनी ही ऊँचाई पर पहुँच जायेंगे किन्तु केवल तब जब वे क्षपक श्रेणी चढ़ेंगे। आत्माएँ, यद्यपि प्रत्येक नहीं, अपने जीवन में तीन प्रकार के अंधकार का सामना करती है। प्रथम- जाग्रति से पूर्व, द्वितीय- जाग्रति के पश्चात्, तृतीय- उपशम श्रेणी चढ़ने के कारण।

(6) सुप्त आत्मा जाग्रत होने के पश्चात् अब आध्यात्मिक रूपान्तरण, नैतिक और बौद्धिक तैयारी के माध्यम से ध्यान की सीढ़ियों

से चढ़ता हुआ उदात्त लक्ष्य की ओर पहुँचता है। यह लोकातीत जीवन है और अतिमानसिक अवस्था है। यह आत्मा की विजय है, रहस्यवाद का फूल है। अब आत्मा 'अरिहंत' है और तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ठहरती है।

चौदहवें गुणस्थान से तुरन्त वह विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है, आत्मा की यह अवस्था गुणस्थानों से परे है। आत्मा की यह अवस्था रहस्यात्मक यात्रा की समाप्ति है।

वैदिक, जैन और बौद्धों का चिन्तन उल्लेखनीय रूप से एक दूसरे के साथ मनोवैज्ञानिक, नैतिक और धार्मिक स्तर पर समान है। जैनधर्म के अनुसार मूल सद्गुण हैं- (1) आध्यात्मिक रूपान्तरण, (2) स्वाध्याय, (3) अहिंसा, (4) सत्य, (5) अस्तेय, (6) ब्रह्मचर्य, (7) अपरिग्रह, (8) ध्यान और (9) भक्ति। जैन आचार व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय प्रगति लाने में समर्थ कहा जा सकता है।



सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अंगुत्तरनिकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
2. अमितगति श्रावकाचार, अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
3. ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
4. इष्टोपदेश, पूज्यपाद, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
5. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
7. केनोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
8. गोम्मटसार जीवकाण्ड, नेमिचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
9. चारित्रपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
10. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
11. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
12. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, सर्वार्थसिद्धि के अन्तर्गत, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
13. तत्त्वानुशासन, नागकुमार मुनि, वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली
14. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
15. दीघ निकाय, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
16. नियमसार, पद्मप्रभमलधारीदेव की टीका सहित, जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई
17. न्यायदर्शन, गौतम, वात्स्यायन के भाष्य सहित, चौखम्बा, बनारस
18. न्यायसूत्र-भाष्य-वर्तिका, उद्योतकर, चौखम्बा, बनारस
19. पञ्चास्तिकाय, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
20. परमात्मप्रकाश, योगिन्दु, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
21. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई

22. पोत्तपद सुत्त, महाबोधि सभा, सारनाथ, 'दीघनिकाय' के अन्तर्गत
23. प्रवचनसार, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
24. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
25. बोधपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
26. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
27. भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
28. भागवत पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर
29. भावपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
30. मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
31. मूलाचार, वट्टकेर, अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
32. मोक्षपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
33. योगदर्शन, पतंजलि, गीता प्रेस, गोरखपुर
34. योगदर्शन भाष्य और भोजवृत्ति, शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद
35. योगसार, योगीन्दु, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
36. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र, वीरसेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली
37. शीलपाहुड, कुन्दकुन्द, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ 'अष्टपाहुड' के अन्तर्गत
38. श्वेतश्वेतरोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
39. समयसार, कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और जयसेन की टीका सहित, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई
40. समाधिशतक, पूज्यपाद, वीरसेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली
41. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
42. सांख्यकारिका, ईश्वर कृष्ण, चौखम्बा, बनारस
43. स्वयंभूस्तोत्र, समन्तभद्र, वीरसेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली

44. Ācārāṅga-Sūtra, Sacred Books of the East., Vol.XXII
45. Ātmānūsāsana of Guṇabhadra, Sacred Books of the Jains, Vol. VII
46. Bhagavad-Gītā, English Translation by Radhakrishnan, George Allen & Unwin, London
47. Bhagavad-Gītā, as the Philosophy of God-realisation by R.D.Ranada, Nagpur University, Nagpur
48. Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy by R.D. Ranade, Oriental Book Agency, Poona
49. Doctrines of Jainism, Schubring, Motilal Banarsidas, Delhi
50. Early Buddhist Monachism, Dr. Dutta, London
51. Ethics of the Hindus, S. K. Maitra, University of Calcutta
52. Fundamentals of Ethics, Urban, George Allen & Unwin, London
53. Greek Philosophy, Burnet, Mac Millan and Co.
54. History of Philosophy Eastern and Western, Vol.I, George Allen and Unwin, London
55. Indian Philosophy, Vol. I & II, Radhakrishnan, George Allen & Unwin, London
56. Introduction of Indian Philosophy, Datta and Chatterjee, University of Calcutta, Calcutta
57. Kauṣītaki-Upaniṣad, George Allen & Unwin, London, under the title 'Principal Upaniṣads'
58. Maitrī-Upaniṣad, George Allen & Unwin, London, under the title 'Principal Upaniṣads'
59. Niyamsāra of Kundakunda, Sacred Books of the Jains, Vol. IX
60. Outline of the History of Ethics, Henry Sidgwick, Mac Millan and Co., London

61. Outline of the History of Greek Philosophy, Zeller, Routledge and Kegan, London
62. Outline of Indian Philosophy, M. Hiriyanna, George Allen & Unwin, London
63. Pathway of God-realization in Hindi Literature, H. D. Ranada, Adhyātma Vidyā Mandir, Sāngli
64. Principal Upaniṣads, George Allen & Unwin, London
65. Religion and Society, Dr. Radhakrishnan, George Allen & Unwin, London
66. Śāstradīpikā, Pārthasārathī Miśra, Oriental Institute, Baroda
67. Short History of Ethics, R. A. P. Rogers, Mac Millan & Co. London
68. Studies in Jaina Philosophy, Nathmal Tatia, Jaina Cultural Research Society, Banaras
69. Uttarādhyayana, Sacred Books of the East, Vol.XLV
70. Vedānta Explained Vol. I & II, Dr. V. H. Date, D. M. Tilak, Bombay
71. World Problems and Jaina Ethics, Beni Prasad, Jain Cultural Society, Banaras
72. Yoga, Immortality and Freedom, Mircea Eliade, Routledge and Kegan Paul, London



विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या	
	समर्पण		
	प्रकाशकीय	XI	
	प्राक्कथन	प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली	XIV
	सम्पादकीय	डॉ. कमलचन्द सोगानी	XVII
	सामान्य सम्पादकीय	डॉ. ए. एन. उपाध्ये डॉ. हीरालाल जैन	XXIII
	प्रस्तावना	डॉ. कमलचन्द सोगानी	XXIX

खण्ड-3

7. जैन और जैनेतर भारतीय आचारशास्त्रीय सिद्धान्त

1-62

पूर्व अध्याय का संक्षिप्त विवरण (1-2), विभिन्न प्रकार से नैतिक आदर्श की अभिव्यक्तियाँ (2-12),

